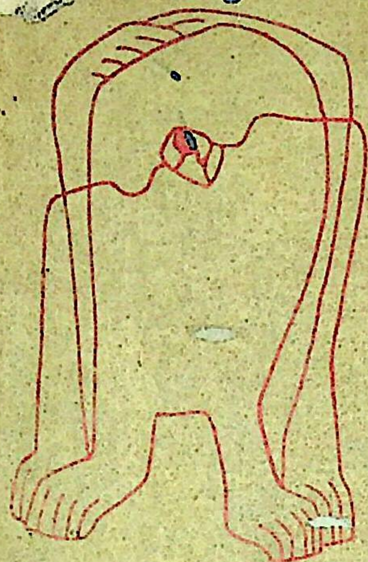
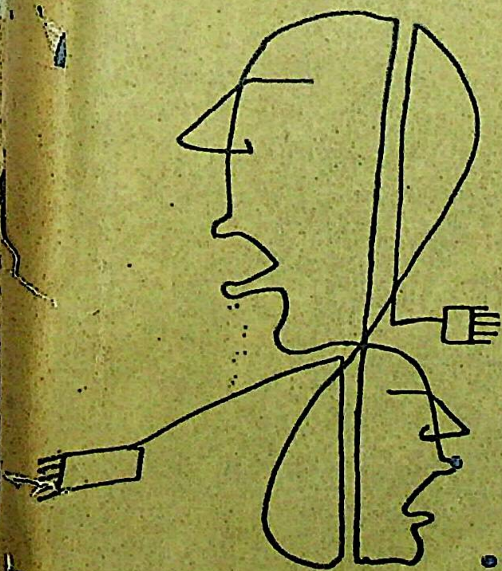


जगदीश गुप्त





नई कविता आन्दोलन के अग्रणी
कवि-चित्रकार जगदीश गुप्त का
अप्रतिम अधुनातन
चित्रान्वित काव्य

युग्म

— समसामयिक परिवेश में अनुभूत
आदिम युग्म-भाव की अन्तरंग स्थितियों की
एक बहुमुखी गाथा

☐ 'युग्म' स्त्री-पुरुष के द्वैत रूप में समानतः व्याप्त अद्वैत-भाव को द्योतित करनेवाला बुद्धि-संगत प्रतीक है।

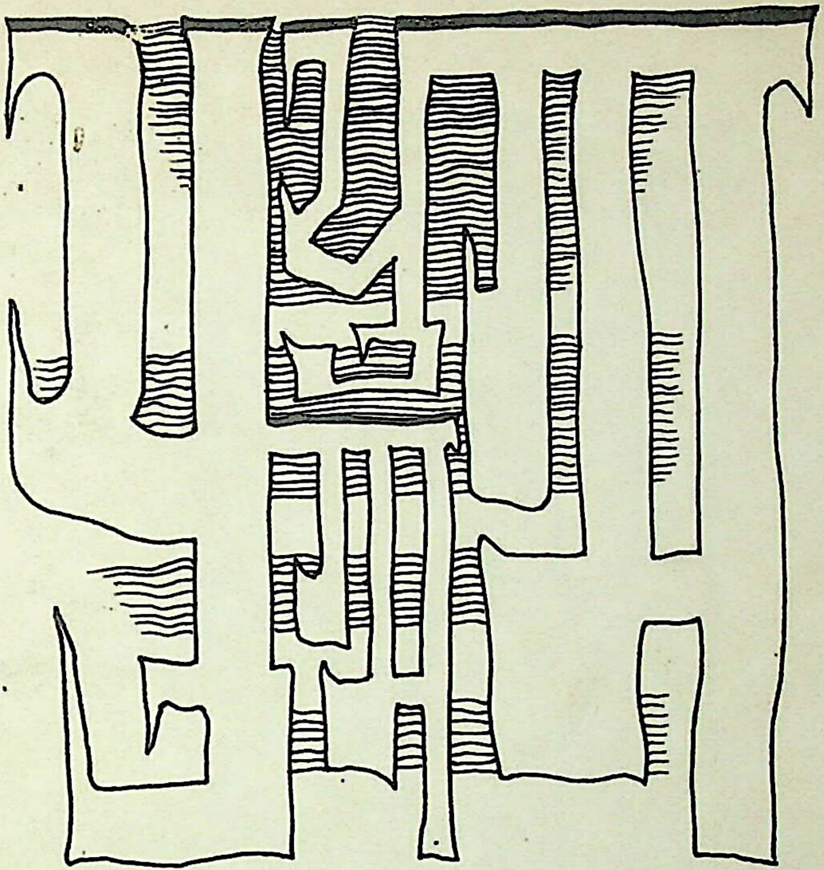
☐ भारतीय जीवन-दृष्टि मानव की उस अभिन्न इकाई को देख पाने में समर्थ हुई जो व्यक्ति-व्यक्ति के देहात्मक विभेद को लक्षित करनेवाली इकाई से गहरी है और उस पाश्चात्य विचारधारा से भिन्न है जो प्रत्येक व्यक्ति को मूलतः पृथक् इकाई मानती है।

☐ इस क्षेत्र की इतर सम्माननीय काव्य-कृतियों से भिन्न इसमें न पौराणिकता का दुर्वह बोझ है न आदर्शीकृत नारी-केन्द्रित अभिव्यक्ति का व्यवधान।

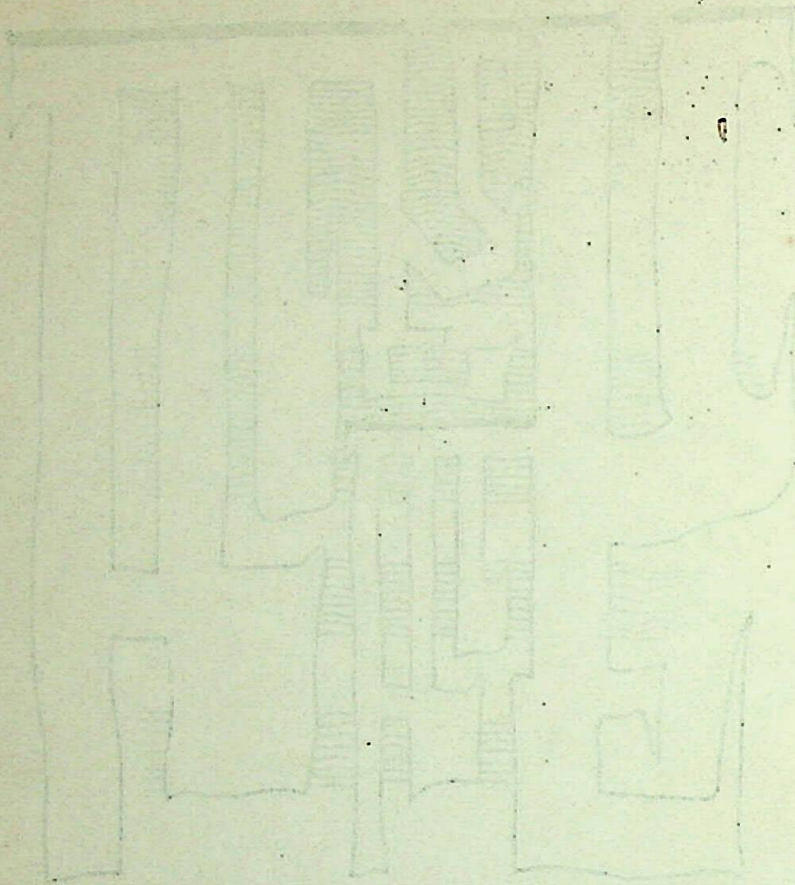
☐ सचेतन के सम्पर्क में आने पर परितोष का रूप उभयात्मक होता है, अचेतन के सम्पर्क में एकपक्षीय। युग्म-भावना सचेतन सम्पर्क की ही एक विशिष्ट परिणति है।

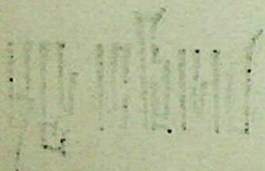
☐ 'युग्म' कई अर्थों का संवहन करता है। पहले अर्थ में कविताओं के साथ इसमें चित्रों की शृंखला समान रूप में समन्वित है तथा दूसरे और अधिक गहरे अर्थ में यह सृष्टि के आदिम सहचर स्त्री-पुरुष की सहज मनोभूमि पर निरन्तर उपजनेवाले असीम आकर्षण-विकर्षण के पारस्परिक घात-प्रतिघात की उलझी-सुलझी संवेदनाओं को नये दैनन्दिन सन्दर्भों में रूपायित करने का एक विशिष्ट प्रयत्न है। झूठ-सच, पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक, उचित-अनुचित के अनेक द्वन्द्व इसके सारे रचनात्मक विस्तार में रूढ़ अर्थों को तोड़कर बाहर आने के लिए छटपटाते हुए दिखायी देते हैं।

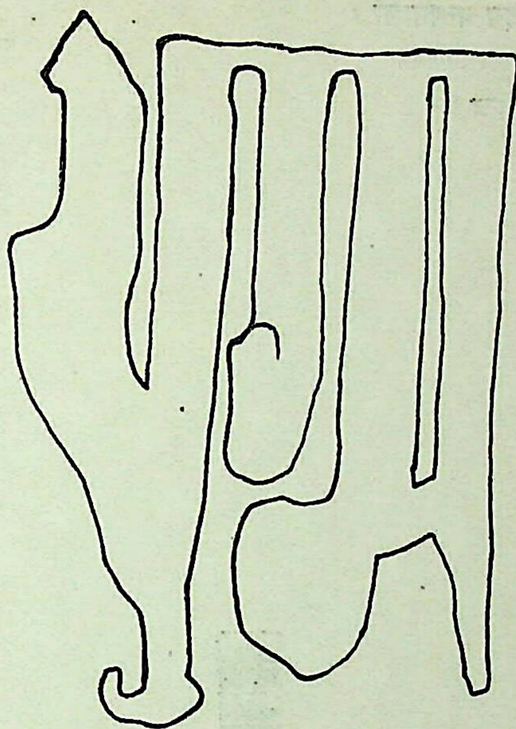
☐ संयम और विवेक दोनों तट हैं जिनके बीच से आदमी की जिन्दगी को नदी की तरह गुज़रना पड़ता है। जल की उपादेयता और प्रवाह की शक्ति को पहचाननेवाला ही युग्मपरक मानवीय सन्दर्भ को ठीक ढंग से समझ सकता है।



जगदीश गुप्त







जगदीश गुप्त



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला :
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्रन्थांक : ३५३
प्रथम संस्करण : अक्तूबर १९७३
मूल्य : तीस रुपये



युग्म
(कविता)
जगदीश गुप्त

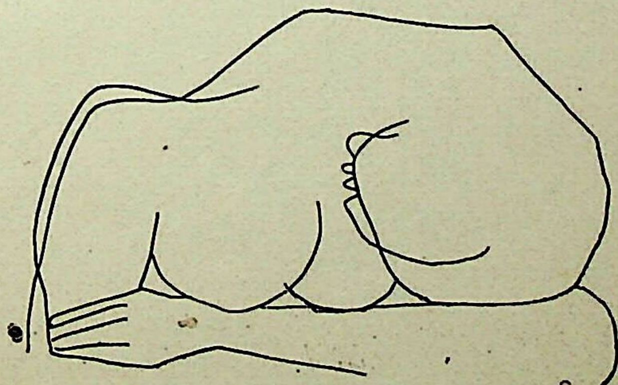
प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७, कॅनॉट प्लेस,
नयी दिल्ली-११०००१

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००५

Price : *Rs* 30/-

YUGMA *(Poetry)* : DR, JAGADISH GUPTA

प्रतिमा शीलवती को

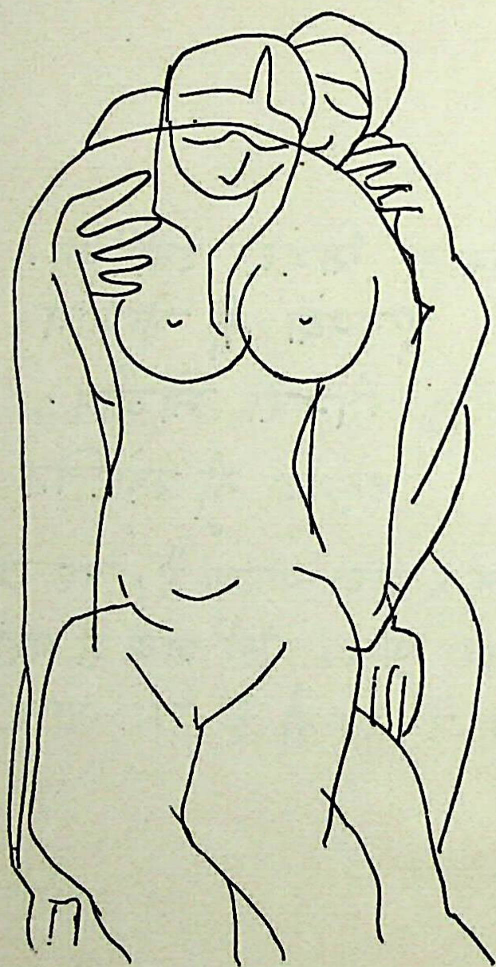


मुच्चिशनो सिगदा रवोचित,
एनगदा नी मोज़ीत
ज़ेनशीना सिगदा मोज़ीत,
एनगदा नी रवोचित

• • •

पुरुष कुछ सदा चाहता है, पर प्रायः कुछ भी कर नहीं पाता; स्त्री सदा ही वही कर सकने की स्थिति में रहती है, पर प्रायः चाहती नहीं।

[एक रूसी कहावत : अनुवाद एवं अक्षर : गोपेश]



क्रम

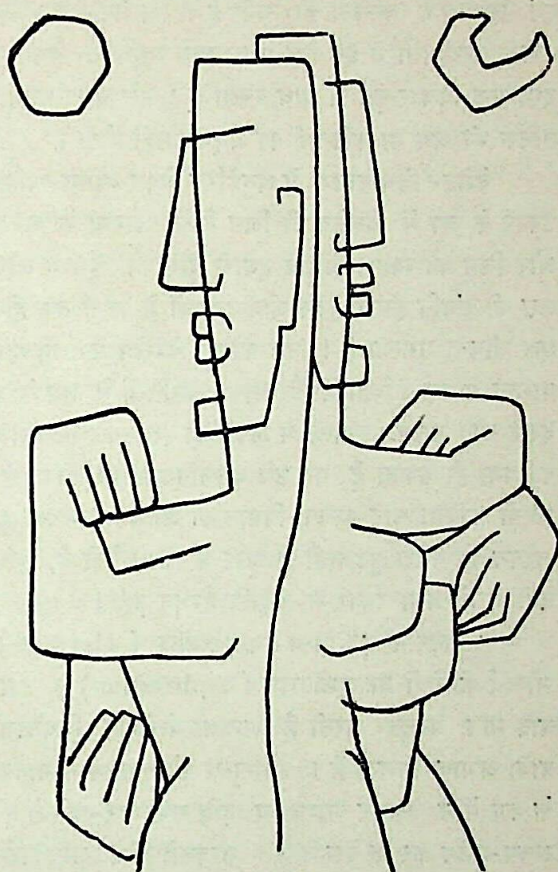
पूर्व रंग

चित्र-मध्य

उत्तर-युग्म

समाहार





युग्म के बारे में

१

'युग्म' स्त्री-पुरुष के द्वैत रूप में समानतः व्याप्त अद्वैत-भाव को द्योतित करनेवाला बुद्धि-संगत प्रतीक है। इसे जीवन के सूक्ष्म अनुभव के आधार पर, द्वैताद्वैत की दार्शनिक पीठिका के बिना भी जाना जा सकता है।

भारतीय जीवन-दृष्टि मानव की उस अभिन्न इकाई को देख पाने में समर्थ हुई जो व्यक्ति-व्यक्ति के देहात्मक विभेद को लक्षित करनेवाली इकाई से गहरी है क्योंकि उस में एक दूसरे को पाकर, व्यक्तिगत सीमा से आगे जाकर, पूर्णता की विशद

एवं असाधारण कल्पना की गयी है। 'अर्धांग' और 'अर्धनारीश्वर' की मिलती-जुलती धारणाओं ने इस देश में सामान्य मनुष्य से लेकर उच्चतम देवाधिदेव तक को इसी एक विचार-सूत्र में बाँध रक्खा है। इसे ग्रहण करने में भारतीय जन-मानस को तनिक भी श्रम या कठिनाई का अनुभव नहीं होता।

देशेतर विचारधारा से अनुप्रेरित होकर व्यक्ति-व्यक्ति को मूलतः पृथक् आत्मिक इकाई के रूप में देखनेवाली जिस भिन्न धारणा के सम्पर्क में आज हम आ चुके हैं और जिस का व्यापक प्रभाव हमारी दृष्टि को धुँधला और कुण्ठित करता जा रहा है उस की संगति हमारे गहरे जीवनानुभवों से कहाँ तक हो पाती है यह मेरी समझ में एक जीवन्त समस्या है। उसे कविता के क्षेत्र से वहिष्कृत नहीं किया जा सकता। वास्तव में वह कविता में ही आकर पसलियों से सब से अधिक टकराती है। किसी दूसरे की अनुभव-प्रणाली में अपने को ढालकर लिखना एक कौशल, एक नाटकीय करिश्मा हो सकता है पर उसे वास्तविकता का निजी रूप कहना सम्भव नहीं है। सच्ची कविता सारे कल्पना-विधान को आत्मसात् करती हुई भी, मूल वास्तविकता के खरेपन को न तो झुठलाती है और न मिटने देती है, वरन् वह उसे ऐसा निखार दे देती है जो अन्य प्रकार से कदापि सम्भव नहीं।

जुपिटर के पुत्र पान्थ देवता हर्मीज़ (Hermes) की उभयलिंगी सन्तान जो सौन्दर्य की देवी या एफ्रोडाइट (Aphrodite) से उत्पन्न मानी गयी है एक अपवाद मात्र प्रस्तुत करती है अन्यथा योरोपीय मिथॉलॅजी में युग्मात्मक कल्पना का प्रायः अभाव मिलता है। स्त्री-पुरुष को एकात्म न मानकर या मूलतः अभिन्न इकाई के रूप में न देखकर पाश्चात्य दृष्टि सभी नर-नारियों को स्वतन्त्र इकाई के रूप में अलग-अलग कर के देखती है। सम्बन्धों और अधिकारों का स्वरूप भी तदनुरूप ढलने लगता है। वयस्क मताधिकार और लोक-तन्त्रात्मक प्रणाली ने इसे राजनीतिक धरातल पर व्यापक रूप से मान्य भी बना दिया है। मूल्यों में संक्रान्ति आरम्भ हो गयी है परन्तु सहस्राब्दियों की सहेजी-सँवारी सांस्कृतिक चेतना मात्र इतने से ही निरर्थक सिद्ध नहीं हो जाती है और न यह स्थिति, अन्तर्मन के सूक्ष्म संघर्षों में, उसे निष्क्रिय कर पाती है। सही बात तो यह है कि वह आयातित जीवन-दृष्टि को उपयोगिता के साथ-साथ मानसिक सामंजस्य की कसौटी पर भी कसते हुए पुनर्मूल्यांकित करने की भावना भी उत्पन्न करती है। नये जीवन-मूल्य किसे कितनी स्वीकृति प्रदान करेंगे और कालान्तर में सत्य किस के पक्ष में खड़ा होगा यह अभी से कह पाना सम्भव नहीं है। 'युग्म' की कविताओं में कहीं-कहीं इस समस्या की बेचैनी मिलेगी, समाधान भले ही न मिल पाये क्योंकि मैं नहीं समझता कि वह मेरे या किसी और के हाथ अभी आ गया है। साहित्य युगीन संवेदनाओं को निरन्तर नया सांस्कृतिक परिष्कार देता रहा है। समाधान प्रस्तुत करना साहित्यिकों का नहीं, दार्शनिकों का काम होता है। साहित्य समाधान की दिशा का संकेत अवश्य कर देता है जो बहुत बार दर्शन के लिए खोज पाना दुष्कर होता है। 'नारी' के भीतर 'नारी'

और 'पुरुष' के भीतर 'पुरुष' की सूक्तियाँ इस समस्या को छू भी नहीं पातीं। वे तो व्यर्थ के दार्शनिक घटाटोप के साथ कन्नी काटकर निकल जाने जैसी लगती हैं। 'सनातन नर' और 'सनातन नारी' की धारणा भी युग्म-भाव के पूर्णतया अनुरूप नहीं है क्योंकि उस में दोनों के अस्तित्व को सनातन पार्थक्य दे दिया जाता है। देवत्व और मर्त्य का द्वन्द्व तो आज प्रायः निरर्थक और अप्रासंगिक हो गया है। बाह्यतः पृथक् दिखाई देते हुए भी सृष्टिक्रम में नर-नारी दोनों मूलतः एक हैं और वृन्ततः एक दूसरे के पूरक। कालिदास ने इस तथ्य को 'कुमार-सम्भव' के द्वितीय सर्ग में इस प्रकार शब्द-बद्ध किया है :

स्त्रीपुंसौ आत्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥७॥

वृक्ष के रूपक को आगे खींचूँ तो कह सकता हूँ कि फलतः दोनों की शरीर रचना में अन्तर भी है और साम्य भी। पुरुष-वक्ष पर स्तन-चिह्न सिद्ध करते हैं कि मानव-शरीर की प्राथमिक कल्पना मिश्रित रही होगी। इसी लिए शैव और शाक्त मत का समन्वय सरलता से घटित हो जाता है। यौन-परिवर्तन के प्रभूत उदाहरण दैहिक लिंग-भेद के भीतर निहित अभेद को भौतिक स्तर पर भी प्रायः यथार्थ प्रमाणित करते हैं। इन सभी कारणों से भारतीय दृष्टि को न तो निराधार कहा जा सकता है और न निरुपयोगी। मेरी निश्चित धारणा है कि युग्म-रूप ही सृष्टि की वास्तविक इकाई है फिर चाहे उसे बौद्ध तान्त्रिकों की तरह 'युगनद्ध' माना जाये चाहे शैव-शाक्तों की तरह युगान्वित। स्त्री-पुरुष दोनों की अन्योन्याश्रित, आश्लिष्ट एवं एकात्म स्थिति की मान्यता प्रत्येक दशा में अपरिहार्य है। सत्य को देखा भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जाता है पर सत्य होता एक ही है। दृष्टिकोणों में बदलाव भी घटित होता रहता है। भारतीय दृष्टि कभी न कभी विश्व-दृष्टि बन सकेगी मैं इस के प्रति आश्वस्त हूँ। पाश्चात्य दृष्टि के प्रभाव एवं व्यवहारगत समसामयिक महत्त्व को अंशतः अंगीकार करता हुआ भी मैं अपनी आस्था को विचलित होते हुए नहीं देखता हूँ। स्वानुभूति के आधार पर कह सकता हूँ कि मुझे इस क्षेत्र में अपने देश का चिन्तन अधिक सूक्ष्म और प्रौढ़ दिखाई देता है। कोई चाहे तो इसे मेरा स्वदेश-प्रेम-जन्य पूर्वाग्रह भी कह सकता है पर मुझे वैसा लगता नहीं है। मैं उस के कहे का बुरा नहीं मानूँगा।

सृष्टि का परला सिरा अज्ञात है। कोई नहीं जानता कि वह कब क्यों और कैसे आरम्भ हुई यद्यपि इस विषय में विपुल साहित्य उपलब्ध है और चन्द्रयात्रा के बाद भी तरह-तरह के अन्वेषण जारी हैं। जो भी पहला युग्म मानव परम्परा का आदिकारण बना होगा वह किसी प्रचलित सम्बन्ध से परिभाषित नहीं किया जा सकता। ब्रह्माणी सरस्वती प्रजापति ब्रह्मा की पुत्री मानी गयी हैं। यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।६।१०।४) में विश्व मातृत्व की संवाहिका 'अम्बिका' रुद्र की 'स्वसा' बतायी गयी हैं। बाद की परम्परा में वही शिव की परिणीता पत्नी

अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥[१]

कितने भी उदाहरण दिये जायें वह निःशेष नहीं हो सकता। संस्कृत में ही नहीं प्राकृत, अपभ्रंश और परवर्ती विभिन्न भाषाओं में इस प्रकार का विपुल साहित्य उपलब्ध होता है जो देश में युगों से युग्म-भाव की व्याप्ति और सृजनशीलता का परिचायक है। 'शृंगार' के नाम से काव्यशास्त्र में और 'उज्ज्वल' नाम से भक्तिशास्त्र में उसे विधिवत् प्रमुख स्थान दिया गया है पर वहाँ भी 'रस' की इयत्ता उसे यथार्थ का एकपक्षीय आदर्श रूप देकर छोड़ देती है। आधुनिक साहित्य ऐसी किसी सीमा का अनुवर्ती होकर चलना पसन्द नहीं करता। वह निर्भीक होकर युग्म-भाव को, रस की सीमा का अतिक्रमण करते हुए, यथार्थाश्रित वैविध्य के साथ प्रस्तुत करता है।

नारी-धर्म नर में ओर नर-धर्म नारी में परिकल्पित करने की असाधारण एवं आत्यन्तिक स्थितियाँ मध्यकालीन साहित्य में इसलिए उत्पन्न हुईं कि चिन्तकों ने पुरुष या स्त्री में से किसी एक ही के रूप को चेतना का आदि स्रोत मानने का आग्रह किया। जहाँ उस से उबरे नहीं कि युग्मरूप की सहजता स्वयमेव सामने आने लगी। धर्म, दर्शन, कला और शिल्प सभी क्षेत्रों में रूपायित अगणित मिथुन आकृतियाँ मानव-मन के अपूर्व सृजन-सामर्थ्य का पर्याय बनकर उभर आयीं। सौन्दर्य के पारखियों के लिए वे 'लोचन जुगल अनेक' की तरह साक्षात्कार की अनिवार्य आकांक्षा का केन्द्र बन गयीं। मुझे निरन्तर लगता रहा है कि सौन्दर्य-दृष्टि स्वयं एक 'बहुलोचना नदी' है जिस में हर वस्तु प्रतिबिम्बित होते ही युग्म रूप धारण कर लेती है। बिना कहीं स्वयं को प्रतिबिम्बित किये अपने स्वरूप को सच्चे अर्थ में देखना-पहचानना भी तो सम्भव नहीं है। इसी लिए मुझे सृष्टि के मूल में किसी एकाकी अद्वैत सत्ता की 'निश्चेष्ट-भाव ही पड़ा शून्य में सोता' जैसी कल्पना कभी रुचिकर प्रतीत नहीं हुई, भले ही दार्शनिक तथ्य के रूप में कुछ चिन्तक उसे अनिवार्य मानें। मेरा रास्ता उन वैष्णवों के निकट रहा है जो 'अभेद' को सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार करते हुए भी 'भेद-भक्ति' की ही कामना कर के सुखी होते हैं। मैं दर्शन की भूमि से नहीं, साहित्य की भूमि से बोल रहा हूँ जहाँ शब्द-अर्थ का युग्म अपने चिरनवीन अगणित स्वरूपों का उद्घाटन करता रहता है। 'अनन्ता हि वाग्विकल्पाः'। एक सीमा पर जैसे काव्य की तनावोंभरी भाषा स्वाभाविक हो जाती है वैसे ही पौराणिक प्रतीक भी अपनी द्वन्द्वात्मकता में सहज दिखाई देने लगते हैं। सत्य इतना सीधा-सरल है कहाँ जो उसे निर्विरोध या निर्द्वन्द्व कहा जा सके। स्वतन्त्रताद्वैतवादी शाक्त जिस स्वातन्त्र्य की कल्पना करते हैं उस में अनन्त प्रकार के विरोधों के समन्वय का

---

१. कुञ्ज-कुञ्ज धीरे-धीरे, गाल से गाल सटाये, इधर-उधर की असम्बद्ध बातें करते, परस्पर बाँहों में कसे उन दोनों को पता ही नहीं चलता कि रात कब-बीत गयी। (भवभूति)

द्वार निहित है क्योंकि मूल सत्ता से ही उस में द्वितीय का स्फुरण माना जाता है।[1] इसी तरह शुद्धाद्वैत-दर्शन ब्रह्म को 'विरुद्धधर्माश्रय' बताता है अर्थात् विरोधों की कभी आत्यन्तिक समाप्ति होती ही नहीं। ब्रह्म की विराट् कल्पना में समस्त विरोधों का अन्ततः पर्यवसान मान अवश्य लिया जाता है पर यह एक प्रकार से समाप्ति नहीं व्याप्ति की स्थिति है। कोई भी विरोध स्वयंसिद्ध सत्य नहीं होता। एक विशेष स्थिति, सन्दर्भ और काल में ही वह सम्भव या घटित होता है। सारी सीमाएँ टूटीं नहीं कि विरोध मिटा नहीं। परस्परविरोधी भी 'होने' के धर्म में अविरुद्ध हैं। 'थे' और 'हैं' या 'होंगे' का कालगत विरोध विकास-क्रम की एक प्रक्रिया में आ जाने पर 'टाइम-मशीन' बनकर समाप्त हो जाता है। 'आग' और 'पानी' का सम्पर्कगत विरोध 'वाष्प' के रूप में परिणत होकर उष्णता और जलीयता दोनों के गुणों को एक साथ धारण कर लेता है, हाँ तरलता के स्थान पर उस में वायवीयता का समावेश हो जाता है और उसे नया रूप, नयी संज्ञा प्राप्त हो जाती है। नर-नारी का विभाजन भी दोनों सिरों पर आत्यन्तिक नहीं लगता। मूल एकता रह-रहकर झकझोरती रहती है और अपरिमित रूपों में, अगणित चेष्टाओं-आकांक्षाओं का वेश रखकर अपने को प्रकट करती जाती है। चेतना का स्रोत, जल-धार में थोड़ा ही नीचे उतरने पर, अतलता का आभास देने लगता है और मानवीय सम्बन्ध सान्तता में स्थित होते हुए भी अनन्तता का आभास देते प्रतीत होते हैं। एक विचित्र प्रकार का बोध सारी संवेदनाओं में व्याप्त हो जाता है। इन कविताओं में विचित्रता से युक्त यह बोध भी यत्किंचित् लक्षित हो तो उसे सहज रूप में ही ग्रहण करना ठीक होगा क्योंकि मेरा लक्ष विचित्रता को सामने लाना नहीं, सहजता को पकड़ना ही रहा है। विचित्रता ने जहाँ सहजता को उभार दिया हो वहाँ मैं उस का उपकार मानने में कृपणता भी नहीं दिखाना चाहता।

पृथ्वी के लघु कण 'परमाणु' से लेकर आकाश की विराटता तक में युग्मता बिखरी पड़ी है। तारों के हज़ारों जोड़े जो खगोलविदोंकी भाषा में 'युग्म-तारक' कहलाते हैं दूरवीक्षकों की दृष्टि में आये हैं। वस्तुतः सृष्टि की ग्रन्थि खोलने के क्रम में और उलझती जाती है। किन्हीं दो बिन्दुओं के बीच आकर्षण क्यों होता है? फिर दो व्यक्तित्व निकट आकर सहसा दूर क्यों चले जाते हैं? इस का निदान दुष्कर है। समुद्र में बहते हुए तिनकों के बीच होनेवाली निकटता और दूरी को समुद्र की प्रकृति समझे बिना व्याख्यायित करना सम्भव नहीं है। विशेषतः तब जब लगे कि तत्त्वतः तिनके और समुद्र को भी पृथक् करना असम्भव है।

यथा :

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयेते महोदधौ,
समेत्य च व्यपोयेते तद्वद् भूतसमागमः ॥
—वाल्मीकि रामायण

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि : पृ. २।

मानव का परिवेश से सम्बन्ध ही इतना जटिल और अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार की असंख्य सम्भावनाओं से भरा है कि समुद्र का रूपक ही उस के लिए उपयुक्त दिखाई देता है पर तिनका जहाँ निर्जीव वस्तु है वहाँ वुद्धि और मन से युक्त मानव ऐसी शक्ति रखता है कि परिवेश के समुद्र को तैर जाता है, उसे नाप लेता है और भीतर तक मथ डालता है। परिवेश को प्रभावित करने की अपार शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में निहित है किन्तु उस का उद्‌घाटन विना युग्म-भाव के पूरी तरह हो नहीं पाता। जीवन को आन्तरिक पूर्णता देने के लिए वह अनिवार्य है। वाल्मीकि ने, राम-सीता के प्रसंग में भीगी हुई क्यारी के रूपक से इस को प्रमाणित किया है। यथा :

केदारस्येव केदार: सोदकस्य निरूदक: ।
उपस्नेहेन जीवामि जीवन्तीयंच्छृणोमि ताम् ॥११॥
—युद्ध काण्ड, पंचम सर्ग

सामान्यत: अपने को खो देना नितान्त अज्ञान माना जाता है और अपने को पा लेना परम ज्ञान। किन्तु युग्म-भूमि पर आकर खोने और पाने का अर्थ ही वदल जाता है। स्नेह-सम्वन्ध सदैव खोने और पाने की युगपत् प्रक्रिया में सजीव रहते हैं, अत: उन में ज्ञान और अज्ञान का अद्भुत मिश्रण रहता है। एक सिरे पर प्रेम अन्धता का पर्याय वन जाता है तो दूसरे सिरे पर वही दिव्य ज्योति का प्रतीक हो जाता है। एक विन्दु पर रागात्मक सम्वन्ध निरर्थक लगते हैं तो दूसरे विन्दु पर वही सार्थक प्रतीत होने लगते हैं। सन्तों और भक्तों ने एक सन्दर्भ में सांसारिक सम्वन्धों को त्याज्य वताते हुए दूसरे सन्दर्भ में स्वीकार्य माना है। अपने आराध्य के प्रति दास्य, सख्य, माधुर्यादि भावों की परिकल्पना लौकिक सम्वन्धमूलक ही है। गहरे लोकानुभव के विना ऐसा कदापि सम्भव नहीं था। पर आज यह स्नेह-सम्वन्धों का पारलौकिक दृष्टि से स्थानान्तरण भी आकर्षक नहीं लगता। दासत्व का युग बीत गया है, समत्व ही आज का युग-धर्म है। अतएव मानवीय सम्वन्धों के निर्वाह एवं अपेक्षित उदात्ती-करण की भी नयी व्याख्या अपेक्षित है। नाटक और कथा-साहित्य में इन सम्वन्धों की घुलनशीलता उदात्त-अनुदात्त सभी रूपों में व्यक्त हुई है। कविता भी सर्वथा अछूती नहीं रही है और न रह सकती है। सम्वन्धातीत होते हुए भी चेतना का सम्वन्धाभिमुख होना, वह भी मानवीय धरातल पर, अत्यन्त कष्टसाध्य है। इस की अभिव्यक्ति भी सरल नहीं है। ऐसी कठिन ज़मीन पर नयी कविता का नुकीलापन धीरे-धीरे अपना रास्ता स्वयं वनाता जा रहा है।

नारी को जन्मत: निकृष्ट मानकर किसी भी प्रकार के स्वस्थ मानव सम्वन्ध का विकास नहीं हो सकता। यदि नारी सदोष है तो नर भी अदोष नहीं है अत: नये युग के अनुरूप मूल्य-दृष्टि में परिवर्तन अनिवार्य है। चूँकि प्राचीन शास्त्रों की रचना अधिकतर पुरुषों ने की है इसलिए प्राय: स्त्रियों को सभी क्षेत्रों में समान अधिकार एवं सम्मान से वंचित रक्खा गया है। आज सैद्धान्तिक रूप में दोनों की समानता

व्यापक रीति से स्वीकृत हो चुकी है। व्यवहार में अवश्य अब भी रूढ़ियाँ अपना हठ बनाये हुए हैं। समझदारी हमारी निष्ठापूर्ण सक्रियता की प्रतीक्षा में है। सन्त विनोबा तक इस विद्रोहात्मक मूल्यान्वेषण की जुझारू आवाज़ पहुँच गयी है[1]। नारी को ढोल और पशु की कोटि में रखना अथवा उसे 'सहज अपावन' समझना एक प्रकार का अतिवाद है तो उसे 'केवल श्रद्धा' तथा 'पीयूष-स्रोत' मानना दूसरे प्रकार का अतिवाद। वस्तुतः इस विषय में सन्तुलित दृष्टि और मध्यमार्ग की आवश्यकता है। पुरुष की तुलना में स्त्री को हीन मानकर उस के सहचरण-स्वातन्त्र्य को अब किसी तरह नकारा नहीं जा सकता। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' की संकीर्ण धारणा ने ही उस के भीतर 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' की करुण भावना को जन्म दिया है। देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद तो अब उस की कोई संगति नहीं रही है। फिर अब तो उस की स्वतन्त्रता का अभियान विश्वव्यापी स्तर पर चल रहा है।

समसामयिक काव्य-साहित्य में जो स्वस्थ प्रवृत्ति है वह नारी के स्वाभिमान को रक्षित एवं प्रतिष्ठित करने की ही ओर उन्मुख है किन्तु मानसिक विकृतियाँ भी कम प्रकट नहीं हो रही हैं। 'मरी हुई औरत के साथ सम्भोग' की साहसिक कल्पना के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करने में एक तरुण कवि को संकोच नहीं होता। दूसरा कुछ वैसी ही मुद्रा अपनानेवाला युवा कवि या अकवि 'महिलाओं के विरुद्ध' होकर 'औरतें कुत्ता इतिहास की सब से बड़ी भूल हैं'[2] जैसे फ़तवे देने में अपनी शान समझता है। अन्यत्र वही ग़ैर रोमाण्टिक कवि कहता है—"मैं प्रेम करते युग्मों को आग में जलते कण्टूरों पर बिठा कर मांस-गन्ध को चिरियाते देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ विनाश। इन कीड़ों से मानव पिण्डों के लिए मेरे मन में कोई दया नहीं है।" मैं नहीं चाहता कि आत्महत्या से आगे बढ़ा हुआ सर्वहत्या का यह सन्त्रस्त स्वप्न किसी एक की आत्मतुष्टि के लिए साकार हो क्योंकि इसमें सहानुभूति व्यंग्य रूप में भी निहित नहीं है। दया न भी हो पर दर्द का एहसास भी यदि समाप्त हो गया तो मानवता का नाता ही ख़त्म हो जायेगा। मैं मानवता के नाते को न केवल मूल्यवान् मानता हूँ वरन् उसे मूल्याधार के रूप में भी ग्रहण करता हूँ। सारे मान-मूल्य उस सह-अनुभूति से सिद्ध एवं उसी से उद्भूत होते हैं क्योंकि मनुष्य ही मूल्यों का निर्धारक है। कोई भी मूल्य-बोध उस के लिए उस से सर्वथा निरपेक्ष नहीं

---

१. अगर परमेश्वर का प्रतिनिधि पुरुष है तो उस की ही प्रतिनिधि स्त्री है। पार्वती का अंश पुरुष में भी है और स्त्री में भी। शरीर पार्वती है, जो स्त्री-पुरुष दोनों का है, और स्त्री-पुरुष दोनों के अन्दर ज्ञान है, वह है परमेश्वर। परन्तु हमारे यहाँ ग़लतफ़हमी के कारण स्त्री का स्थान तत्त्वज्ञान में गौण माना गया है। हम इस पर प्रहार करना चाहते हैं। इस में पातिव्रत पर प्रहार हो जाता है, तो हम लाचार हैं।

—'स्त्री-शक्ति' : पृष्ठ ५१ व ५७।

मैं तो इस में ख़तरा मानता हूँ कि पुरुष के साथ स्त्री को स्थान न हो। उस में ब्रह्म-विद्या अधूरी रहती है, उस ब्रह्म के टुकड़े-टुकड़े होते हैं।

—वही, पृष्ठ १३४।

२. 'अथवा' : अंक १, पृष्ठ ५७।

पार्वती कहलाती हैं। सारे सम्बन्ध एक बिन्दु पर आकर अपनी पारिभाषिकता खो देते हैं। व्यावहारिकतया उपादेय होते हुए भी परिभाषित सम्बन्धों से आत्मीय सत्य को बाँधना कठिन है। साधारण रूप से जो असंगत और आपत्तिजनक लगता है वही सन्दर्भ-भेद से संगत और वरेण्य प्रतीत होता है। सृष्टिजात प्रथम युग्म के रूप में शिव-पार्वती के बन्धु-बान्धवी और 'वागर्थाविव' सम्पृक्त आदि दम्पत्ति रूपों में कोई असंगति नहीं है। आगे चल कर जब मानवता के विकास-क्रम में स्वतः बान्धवी-विवेक का उदय हुआ तब शिव-पार्वती के बीच दाम्पत्य सम्बन्ध ही सर्व-मान्य हो गया। जीवन की विडम्बना आदि और अन्त में ही अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। सृजन-प्रक्रिया में स्त्री स्त्री है, पुरुष पुरुष; और हमारा आदिम अस्तित्व सामाजिकता के उदय से भी पहले इस सृजन-प्रक्रिया से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है क्योंकि यही व्यक्तित्व के अस्तित्व का मूलाधार है। सम्बन्धों की इतर संज्ञाएँ मानव जाति के विकास-क्रम की एक विशेष व्यवस्था में ही अपनी सार्थकता रखती हैं। वस्तुतः उन की सीमाएँ अटूट नहीं हैं। मनुष्यत्व छोड़ देने पर आदमी भी पशुवत् आचरण करने लग सकता है। पागलपन, उन्माद और युद्ध की विभीषिकाओं में आदमी का विवेक कब नहीं खोया है। इसी लिए कहा जा सकता है कि इतर प्राणियों की तुलना में युग्म-भाव मानवीय धरातल पर आकर मर्यादित एवं सीमित हो गया है। प्रिय और प्रिया तथा दम्पति के बीच ही उसे सामाजिक नैतिकता सहन करती है और उस में भी बहुत से ऊहापोह उपजते रहते हैं।

नारी और नर के अन्य सम्बन्धों में भावना का भिन्न-भिन्न दिशाओं में उदात्तीकरण हो जाना स्वाभाविक है। यह बात स्वाभाविक न होती, यदि उदात्त बनाने की प्रक्रिया या अनिवार्यता केवल अन्य सम्बन्धों में घटित होती और युग्म-भाव उस से अछूता छूट जाता। पर वैसा हुआ नहीं है। युग्म के स्वकीय-परकीय दोनों भाव-रूप मध्यकालीन साहित्य में अतिशय उदात्त-भूमियों पर प्रतिष्ठित किये गये हैं और दोनों की गरिमा पक्ष-विपक्ष के रूप में स्पर्धा का विषय भी बनी है। एक नहीं कई युगों की चेतना का संवहन उन्होंने किया है, पर अब वे अपनी अर्थ-दीप्ति बहुत-कुछ खो चुके हैं।

युग्म-भाव मनुष्य में दोहरे स्तर पर मिलता है। एक की गणना आदि पुरुष और आदि प्रकृति की परम्परा में होती है और दूसरे की द्रष्टा और भोक्ता अर्थात् मुण्डकोक्त 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' के से रूप में। पहले स्तर पर एकात्म हो जाने के बाद आवश्यक नहीं है कि दूसरी द्विधा समाप्त हो जाये या दूसरे स्तर का विभाजन मिट जाने पर भी आवश्यक नहीं है कि नर-नारीपरक विभेद निरर्थक हो ही जाये। कौन स्तर किस से ऊँचा या श्रेष्ठ है, कहना कठिन है। अन्तर्मुखी हो जाने पर अनुभव अत्यन्त जटिल हो उठता है। हर दिशा हमें अपनी दिशा लगती है और व्यक्तित्व की खोज विवश होकर बहिर्मुखी हो उठती है। हर आत्मगत सत्य को कसौटी पर कसना आवश्यक हो जाता है जिस से उस की प्रामाणिकता असंदिग्ध बनी रहे।

शिव को स्थाणु मानने के ठीक विपरीत वैष्णव कल्पना में नर-रूप नारायण ही सृष्टि के मूल माने गये हैं। उन्हीं की नाभि से निकले नाल-दण्ड पर सृष्टिकर्ता चतुर्मुख ब्रह्मा कमलासनस्थ हैं और स्वयं कमला परा-शक्ति होते हुए भी अपना आसन छोड़कर शेषशायी विष्णु की चरण-सेविका मात्र बनकर रह गयी हैं। उन का प्रिया रूप यहाँ उन के दासी-भाव में विलीन होता हुआ दिखाई देता है। आगे कदाचित् इसी की प्रतिक्रिया में राधा को 'स्वामिनी' कहा गया किन्तु ऐसा वैष्णव-दर्शन पर तान्त्रिक प्रभाव पड़ने के बाद ही सम्भव हुआ। वैष्णव-धर्म में पहले जो महत्ता पुरुष को प्राप्त थी उत्तरोत्तर वह ह्लादिनी-शक्ति के रूप में गृहीत राधा को प्राप्त हो गयी। अनेक वैष्णव-सम्प्रदाय राधा-कृष्ण के युग्म-रूप को उपास्य मानते हुए भी माधुर्य-भावमयी राधा को प्रधानता देते हैं और बहुधा कृष्ण को उन के 'पाँय-पलोटने' का सत्कार्य प्रदान कर देते हैं। अन्ततः लीला-परिकर में पुरुष केवल एक रह जाता है। वह या तो रास में गोपियों से घिरा होता है या राधा की सखियों से जो उस की निकुंज-लीला देखने की एक मात्र अधिकारिणी मानी गयी हैं। राधा-कृष्णपरक काव्य और चित्रकला में युग्म-भाव के जितने रमणीय रूप मिलते हैं उतने सम्भवतः शैव-शाक्त परम्परा की कलाकृतियों में भी प्राप्त नहीं होते। काम-क्रीड़ा का निरावृत प्रदर्शन अवश्य उस में राधा-कृष्ण-परम्परा से अधिक मिलता है। परन्तु आज के युग में इस प्रकार का, धार्मिक-साम्प्रदायिक रूपों में आदर्शीकृत प्रेम और उस की सुनिश्चित शब्दावली में शैलीबद्ध अभिव्यक्ति बहुत दूर तक अवास्तविक और अप्रासंगिक लगती है क्योंकि उस में यथार्थ जगत् में व्याप्त विषमताओं की चेतना को सर्वथा नकार देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्राचीन एवं मध्यकालीन लौकिक साहित्य में अवश्य ऐसे अनेक मार्मिक चित्र मिलते हैं जो सामान्य जीवन की विषमताओं का भी यथार्थ संस्पर्श करते हैं। यथा—

> लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
> नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने।
> परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
> कुच-कलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥[1]

उन के प्रभाव से पारलौकिक या इतर सन्दर्भ के साहित्य में भी कहीं-कहीं मानवीय भावनाओं की कोमलता और स्वाभाविकता का चित्रण अविस्मरणीय लगता है। यथा :

> किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
> दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।

---

१. जौ का खेत, कोने में पड़ी एक छोटी सी झोंपड़ी, नये पुआल का बिछौना और उसी का तकिया, ऐसी जगह सोया हुआ है ऐसा कृषक-युग्म जिस पर छाती की तीव्र गरमाहट की रेखा से बँधा पाला असर ही नहीं कर पाता।

अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥[1]

कितने भी उदाहरण दिये जायें वह निःशेष नहीं हो सकता। संस्कृत में ही नहीं प्राकृत, अपभ्रंश और परवर्ती विभिन्न भाषाओं में इस प्रकार का विपुल साहित्य उपलब्ध होता है जो देश में युगों से युग्म-भाव की व्याप्ति और सृजनशीलता का परिचायक है। 'शृंगार' के नाम से काव्यशास्त्र में और 'उज्ज्वल' नाम से भक्तिशास्त्र में उसे विधिवत् प्रमुख स्थान दिया गया है पर वहाँ भी 'रस' की इयत्ता उसे यथार्थ का एकपक्षीय आदर्श रूप देकर छोड़ देती है। आधुनिक साहित्य ऐसी किसी सीमा का अनुवर्ती होकर चलना पसन्द नहीं करता। वह निर्भीक होकर युग्म-भाव को, रस की सीमा का अतिक्रमण करते हुए, यथार्थाश्रित वैविध्य के साथ प्रस्तुत करता है।

नारी-धर्म नर में ओर नर-धर्म नारी में परिकल्पित करने की असाधारण एवं आत्यन्तिक स्थितियाँ मध्यकालीन साहित्य में इसलिए उत्पन्न हुईं कि चिन्तकों ने पुरुष या स्त्री में से किसी एक ही के रूप को चेतना का आदि स्रोत मानने का आग्रह किया। जहाँ उस से उबरे नहीं कि युग्मरूप की सहजता स्वयमेव सामने आने लगी। धर्म, दर्शन, कला और शिल्प सभी क्षेत्रों में रूपायित अगणित मिथुन आकृतियाँ मानव-मन के अपूर्व सृजन-सामर्थ्य का पर्याय बनकर उभर आयीं। सौन्दर्य के पारखियों के लिए वे 'लोचन जुगल अनेक' की तरह साक्षात्कार की अनिवार्य आकांक्षा का केन्द्र बन गयीं। मुझे निरन्तर लगता रहा है कि सौन्दर्य-दृष्टि स्वयं एक 'बहुलोचना नदी' है जिस में हर वस्तु प्रतिबिम्बित होते ही युग्म रूप धारण कर लेती है। बिना कहीं स्वयं को प्रतिबिम्बित किये अपने स्वरूप को सच्चे अर्थ में देखना-पहचानना भी तो सम्भव नहीं है। इसी लिए मुझे सृष्टि के मूल में किसी एकाकी अद्वैत सत्ता की 'निश्चेष्ट-भाव ही पड़ा शून्य में सोता' जैसी कल्पना कभी रुचिकर प्रतीत नहीं हुई, भले ही दार्शनिक तथ्य के रूप में कुछ चिन्तक उसे अनिवार्य मानें। मेरा रास्ता उन वैष्णवों के निकट रहा है जो 'अभेद' को सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार करते हुए भी 'भेद-भक्ति' की ही कामना कर के सुखी होते हैं। मैं दर्शन की भूमि से नहीं, साहित्य की भूमि से बोल रहा हूँ जहाँ शब्द-अर्थ का युग्म अपने चिरनवीन अगणित स्वरूपों का उद्घाटन करता रहता है। 'अनन्ता हि वाग्विकल्पाः'। एक सीमा पर जैसे काव्य की तनावोंभरी भाषा स्वाभाविक हो जाती है वैसे ही पौराणिक प्रतीक भी अपनी द्वन्द्वात्मकता में सहज दिखाई देने लगते हैं। सत्य इतना सीधा-सरल है कहाँ जो उसे निर्विरोध या निर्द्वन्द्व कहा जा सके। स्वतन्त्रताद्वैतवादी शाक्त जिस स्वातन्त्र्य की कल्पना करते हैं उस में अनन्त प्रकार के विरोधों के समन्वय का

---

१. कुञ्ज-कुञ्ज धीरे-धीरे, गाल से गाल सटाये, इधर-उधर की असम्बद्ध बातें करते, परस्पर बाँहों में कसे उन दोनों को पता ही नहीं चलता कि रात कब बीत गयी। (भवभूति)

द्वार निहित है क्योंकि मूल सत्ता से ही उस में द्वितीय का स्फुरण माना जाता है।[1] इसी तरह शुद्धाद्वैत-दर्शन ब्रह्म को 'विरुद्धधर्माश्रय' बताता है अर्थात् विरोधों की कभी आत्यन्तिक समाप्ति होती ही नहीं। ब्रह्म की विराट् कल्पना में समस्त विरोधों का अन्ततः पर्यवसान मान अवश्य लिया जाता है पर यह एक प्रकार से समाप्ति नहीं व्याप्ति की स्थिति है। कोई भी विरोध स्वयंसिद्ध सत्य नहीं होता। एक विशेष स्थिति, सन्दर्भ और काल में ही वह सम्भव या घटित होता है। सारी सीमाएँ टूटीं नहीं कि विरोध मिटा नहीं। परस्परविरोधी भी 'होने' के धर्म में अविरुद्ध हैं। 'थे' और 'हैं' या 'होंगे' का कालगत विरोध विकास-क्रम की एक प्रक्रिया में आ जाने पर 'टाइम-मशीन' बनकर समाप्त हो जाता है। 'आग' और 'पानी' का सम्पर्क-गत विरोध 'वाष्प' के रूप में परिणत होकर उष्णता और जलीयता दोनों के गुणों को एक साथ धारण कर लेता है, हाँ तरलता के स्थान पर उस में वायवीयता का समावेश हो जाता है और उसे नया रूप, नयी संज्ञा प्राप्त हो जाती है। नर-नारी का विभाजन भी दोनों सिरों पर आत्यन्तिक नहीं लगता। मूल एकता रह-रहकर झक-झोरती रहती है और अपरिमित रूपों में, अगणित चेष्टाओं-आकांक्षाओं का वेश रखकर अपने को प्रकट करती जाती है। चेतना का स्रोत, जल-धार में थोड़ा ही नीचे उतरने पर, अतलता का आभास देने लगता है और मानवीय सम्बन्ध सान्तता में स्थित होते हुए भी अनन्तता का आभास देते प्रतीत होते हैं। एक विचित्र प्रकार का बोध सारी संवेदनाओं में व्याप्त हो जाता है। इन कविताओं में विचित्रता से युक्त यह बोध भी यत्किंचित् लक्षित हो तो उसे सहज रूप में ही ग्रहण करना ठीक होगा क्योंकि मेरा लक्ष्य विचित्रता को सामने लाना नहीं, सहजता को पकड़ना ही रहा है। विचित्रता ने जहाँ सहजता को उभार दिया हो वहाँ मैं उस का उपकार मानने में कृपणता भी नहीं दिखाना चाहता।

पृथ्वी के लघु कण 'परमाणु' से लेकर आकाश की विराटता तक में युग्मता बिखरी पड़ी है। तारों के हज़ारों जोड़े जो खगोलविदोंकी भाषा में 'युग्म-तारक' कहलाते हैं दूरवीक्षकों की दृष्टि में आये हैं। वस्तुतः सृष्टि की ग्रन्थि खोलने के क्रम में और उलझती जाती है। किन्हीं दो विन्दुओं के बीच आकर्षण क्यों होता है? फिर दो व्यक्तित्व निकट आकर सहसा दूर क्यों चले जाते हैं? इस का निदान दुष्कर है। समुद्र में बहते हुए तिनकों के बीच होनेवाली निकटता और दूरी को समुद्र की प्रकृति समझे बिना व्याख्यायित करना सम्भव नहीं है। विशेषतः तब जब लगे कि तत्त्वतः तिनके और समुद्र को भी पृथक् करना असम्भव है।

यथा :

> यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयेते महोदधौ,
> समेत्य च व्यपोयेते तद्वद् भूतसमागमः ॥
>
> —वाल्मीकि रामायण

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि : पृ. २।

[४]

मानव का परिवेश से सम्बन्ध ही इतना जटिल और अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार की असंख्य सम्भावनाओं से भरा है कि समुद्र का रूपक ही उस के लिए उपयुक्त दिखाई देता है पर तिनका जहाँ निर्जीव वस्तु है वहाँ बुद्धि और मन से युक्त मानव ऐसी शक्ति रखता है कि परिवेश के समुद्र को तैर जाता है, उसे नाप लेता है और भीतर तक मथ डालता है। परिवेश को प्रभावित करने की अपार शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में निहित है किन्तु उस का उद्‌घाटन विना युग्म-भाव के पूरी तरह हो नहीं पाता। जीवन को आन्तरिक पूर्णता देने के लिए वह अनिवार्य है। वाल्मीकि ने, राम-सीता के प्रसंग में भीगी हुई क्यारी के रूपक से इस को प्रमाणित किया है। यथा :

> केदारस्येव केदार: सोदकस्य निरूदक: ।
> उपस्नेहेन जीवामि जीवन्तीयंच्छृणोमि ताम् ॥११॥
>
> —युद्ध काण्ड, पंचम सर्ग

सामान्यत: अपने को खो देना नितान्त अज्ञान माना जाता है और अपने को पा लेना परम ज्ञान। किन्तु युग्म-भूमि पर आकर खोने और पाने का अर्थ ही वदल जाता है। स्नेह-सम्वन्ध सदैव खोने और पाने की युगपत् प्रक्रिया में सजीव रहते हैं, अत: उन में ज्ञान और अज्ञान का अद्भुत मिश्रण रहता है। एक सिरे पर प्रेम अन्धता का पर्याय वन जाता है तो दूसरे सिरे पर वही दिव्य ज्योति का प्रतीक हो जाता है। एक विन्दु पर रागात्मक सम्वन्ध निरर्थक लगते हैं तो दूसरे विन्दु पर वही सार्थक प्रतीत होने लगते हैं। सन्तों और भक्तों ने एक सन्दर्भ में सांसारिक सम्वन्धों को त्याज्य वताते हुए दूसरे सन्दर्भ में स्वीकार्य माना है। अपने आराध्य के प्रति दास्य, सख्य, माधुर्यादि भावों की परिकल्पना लौकिक सम्वन्धमूलक ही है। गहरे लोकानुभव के विना ऐसा कदापि सम्भव नहीं था। पर आज यह स्नेह-सम्वन्धों का पारलौकिक दृष्टि से स्थानान्तरण भी आकर्षक नहीं लगता। दासत्व का युग वीत गया है, समत्व ही आज का युग-धर्म है। अतएव मानवीय सम्वन्धों के निर्वाह एवं अपेक्षित उदात्ती-करण की भी नयी व्याख्या अपेक्षित है। नाटक और कथा-साहित्य में इन सम्वन्धों की घुलनशीलता उदात्त-अनुदात्त सभी रूपों में व्यक्त हुई है। कविता भी सर्वथा अछूती नहीं रही है और न रह सकती है। सम्बन्धातीत होते हुए भी चेतना का सम्वन्धाभिमुख होना, वह भी मानवीय धरातल पर, अत्यन्त कष्टसाध्य है। इस की अभिव्यक्ति भी सरल नहीं है। ऐसी कठिन ज़मीन पर नयी कविता का नुकीलापन धीरे-धीरे अपना रास्ता स्वयं वनाता जा रहा है।

नारी को जन्मत: निकृष्ट मानकर किसी भी प्रकार के स्वस्थ मानव सम्वन्ध का विकास नहीं हो सकता। यदि नारी सदोष है तो नर भी अदोष नहीं है अत: नये युग के अनुरूप मूल्य-दृष्टि में परिवर्तन अनिवार्य है। चूँकि प्राचीन शास्त्रों की रचना अधिकतर पुरुषों ने की है इसलिए प्राय: स्त्रियों को सभी क्षेत्रों में समान अधिकार एवं सम्मान से वंचित रक्खा गया है। आज सैद्धान्तिक रूप में दोनों की समानता

व्यापक रीति से स्वीकृत हो चुकी है। व्यवहार में अवश्य अब भी रूढ़ियाँ अपना हठ बनाये हुए हैं। समझदारी हमारी निष्ठापूर्ण सक्रियता की प्रतीक्षा में है। सन्त विनोबा तक इस विद्रोहात्मक मूल्यान्वेषण की जुझारू आवाज़ पहुँच गयी है[1]। नारी को ढोल और पशु की कोटि में रखना अथवा उसे 'सहज अपावन' समझना एक प्रकार का अतिवाद है तो उसे 'केवल श्रद्धा' तथा 'पीयूष-स्रोत' मानना दूसरे प्रकार का अतिवाद। वस्तुतः इस विषय में सन्तुलित दृष्टि और मध्यमार्ग की आवश्यकता है। पुरुष की तुलना में स्त्री को हीन मानकर उस के सहचरण-स्वातन्त्र्य को अब किसी तरह नकारा नहीं जा सकता। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' की संकीर्ण धारणा ने ही उस के भीतर 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' की करुण भावना को जन्म दिया है। देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद तो अब उस की कोई संगति नहीं रही है। फिर अब तो उस की स्वतन्त्रता का अभियान विश्वव्यापी स्तर पर चल रहा है।

समसामयिक काव्य-साहित्य में जो स्वस्थ प्रवृत्ति है वह नारी के स्वाभिमान को रक्षित एवं प्रतिष्ठित करने की ही ओर उन्मुख है किन्तु मानसिक विकृतियाँ भी कम प्रकट नहीं हो रही हैं। 'मरी हुई औरत के साथ सम्भोग' की साहसिक कल्पना के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करने में एक तरुण कवि को संकोच नहीं होता। दूसरा कुछ वैसी ही मुद्रा अपनानेवाला युवा कवि या अकवि 'महिलाओं के विरुद्ध' होकर 'औरतें कुत्ता इतिहास की सब से बड़ी भूल हैं'[2] जैसे फ़तवे देने में अपनी शान समझता है। अन्यत्र वही ग़ैर रोमाण्टिक कवि कहता है—"मैं प्रेम करते युग्मों को आग में जलते कण्टूरों पर बिठा कर मांस-गन्ध को चिरियाते देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ विनाश। इन कीड़ों से मानव पिण्डों के लिए मेरे मन में कोई दया नहीं है।" मैं नहीं चाहता कि आत्महत्या से आगे बढ़ा हुआ सर्वहत्या का यह सन्त्रस्त स्वप्न किसी एक की आत्मतुष्टि के लिए साकार हो क्योंकि इसमें सहानुभूति व्यंग्य रूप में भी निहित नहीं है। दया न भी हो पर दर्द का एहसास भी यदि समाप्त हो गया तो मानवता का नाता ही खत्म हो जायेगा। मैं मानवता के नाते को न केवल मूल्यवान् मानता हूँ वरन् उसे मूल्याधार के रूप में भी ग्रहण करता हूँ। सारे मान-मूल्य उस सह-अनुभूति से सिद्ध एवं उसी से उद्भूत होते हैं क्योंकि मनुष्य ही मूल्यों का निर्धारक है। कोई भी मूल्य-बोध उस के लिए उस से सर्वथा निरपेक्ष नहीं

---

१. अगर परमेश्वर का प्रतिनिधि पुरुष है तो उस की ही प्रतिनिधि स्त्री है। पार्वती का अंश पुरुष में भी है और स्त्री में भी। शरीर पार्वती है, जो स्त्री-पुरुष दोनों का है, और स्त्री-पुरुष दोनों के अन्दर ज्ञान है, वह है परमेश्वर। परन्तु हमारे यहाँ ग़लतफ़हमी के कारण स्त्री का स्थान तत्त्वज्ञान में गौण माना गया है। हम इस पर प्रहार करना चाहते हैं। इस में पातिव्रत पर प्रहार हो जाता है, तो हम लाचार हैं।

—'स्त्री-शक्ति' : पृष्ठ ५१ व ५७।

मैं तो इस में ख़तरा मानता हूँ कि पुरुष के साथ स्त्री को स्थान न हो। उस में ब्रह्म-विद्या अधूरी रहती है, उस ब्रह्म के टुकड़े-टुकड़े होते हैं।

—वही, पृष्ठ १३४।

२. 'अथवा' : अंक १, पृष्ठ ५७।

हो सकता। यदि होगा तो वह या तो जड़ या कृत्रिम यानी अव्यावहारिक होगा। मनुष्य के द्वारा मनुष्य को समझने और विषमतम परिस्थितियों में भी उस के मर्म को छूनें-सहलाने की सार्थकता भावी युग में समाप्त होने जा रही है ऐसा मैं नहीं सोचता। मेरा अन्तःकरण इस की गवाही नहीं देता। दूसरे के लिए यह सही हो सकता है, मेरे लिए सही नहीं है। मैं समस्त मानवता का विनाश, चाहकर भी नहीं चाह सकता। कविता के कलेवर में भी वह मुझे अभीष्ट नहीं है। 'युग्म' मेरी दृष्टि में वह इकाई है जो मानवता के अटूटपन को सिद्ध करती है तथा मानवीयता की खरी पहचान कराती है। यह प्रक्रिया समाप्त हो जाये ऐसा मैं नहीं चाहता इसी लिए युग्म-भाव पर मेरी आस्था है। आत्मसाक्षात्कार उस के विना असम्भव है क्योंकि वह मानव-प्रकृति के मूल में व्याप्त है।

अधुनातन साहित्य में नवीनता के नाम पर प्रश्नोत्तरी की प्रसिद्ध उक्ति 'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी' की पूर्वोक्त अनुगूँज या पुनरावृत्ति विचित्र प्रतीत होती है। किसी कवि को दूसरे कवि के अनुभव पर सन्देह करने का अधिकार नहीं है पर ग़लत लगनेवाले दृष्टिकोण से असहमत होने तथा अपने मत को व्यक्त करने का हक़ तो उसे है ही। फिर युग की आकांक्षा की सही परख तो होनी ही चाहिए।

जो पुरुष वासना का दोष स्त्री के सर मढ़कर अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है वह या तो दम्भी है या उस में ईमानदार होने की ताक़त नहीं है। इसी तरह जो स्त्री पुरुष-मात्र को हीन या त्याज्य मानती हो अथवा उस से वदला लेना ही अपना लक्ष्य समझती हो उस का दृष्टिकोण भी रुग्ण ही कहा जायेगा। एक-दूसरे को केवल भोग्य मानना भी अपूर्ण या खण्डित दृष्टि है; क्योंकि यह सत्य होते हुए भी कि भोग से शरीरधारियों की निवृत्ति सम्भव नहीं है, यह सर्वथा सिद्ध है कि शारीरिक स्तर के परितोष से परे भी मानसिक परितोष का अपार विस्तार है जिसे जाने-समझे विना युग्म-भाव की मनोभूमि का स्पर्श तक नहीं किया जा सकता। तथापि मानसिक धरातल पहले और शारीरिक आकांक्षाएँ वाद में, मानव-संस्कृति का यही सारभूत तत्त्व है। घोर पशु और अघोर राक्षस का ही आचरण इस के विपरीत हो सकता है।

काम-भाव को इस वैज्ञानिक युग में हीन समझना भी ठीक नहीं। कुछ लोगों की दृष्टि में यह बात विवादास्पद हो सकती है। गीता ने काम को क्रोध का कारणभूत और तत्सदृश 'रजोगुणसमुद्भवः' एक अवांछित मनोविकार माना है पर नारद-भक्ति-सूत्र ने उसे क्रोधादि के साथ 'तस्मिन्नेव करणीयम्' वताकर ईश्वर के प्रति व्यक्त करने की छूट दे दी है और सकाम गोपीभाव को सर्वोपरि स्थान दिया है। जो 'आसक्ति' हेय मानी जाती थी वही उन के भक्ति-सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता वनी।

इधर 'सम्भोग से समाधि की ओर' नामक अपनी बहुचर्चित प्रवचन-पुस्तक में आचार्य रजनीश ने 'काम' के सम्बन्ध में बहुत सी विचारणीय एवं साहसपूर्ण बातें नये ढंग से कही हैं जिन में कहीं-कहीं अतिवाद और अन्तर्विरोध भी लक्षित होता है। उन

का आधार अन्ततः मध्यकालीन कामाध्यात्म ही है।

शैवों ने बहुत पहले से ही 'काम' को मंगलमय माना है जिस को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। 'काम मंगल से मण्डित श्रेय सर्ग इच्छा का है परिणाम' उसी विचारधारा से अनुप्रेरित है यह सुविदित है। 'स एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्' जैसे औपनिषदिक कथन उस के भी आधार हैं अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन काम के मूल्यांकन में दोहरी प्रवृत्ति रखता है। सृष्टि के व्यापक सन्दर्भ में घातक एवं त्याज्य इस द्विधा को नया युग अपने ढंग से समाप्त करता जा रहा है और शैव-मत विजयी होता दिखाई दे रहा है, जो मुझे भी इष्ट है। यौन के पक्ष में नारियाँ स्वयं मुखर हो उठी हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के वंश का एक स्वर उसे ऐसी 'वस्तु' मानता है जो मनुष्य को सर्वोच्च सफलता तथा अमरत्व का सन्धान दे सकती है। उस के अनुसार 'यौनाचार' नहीं ढकोसला ही पाप है[1]। निश्चय ही इस के बाद पुरुषों का काम स्वयं हलका रह जाता है। स्त्री का हर चरित्र पुरुष को मुग्ध नहीं करता पर उस का प्रत्येक चरित्र—पात्र, परिस्थिति और प्रसंग भेद से—मुग्ध करने की क्षमता अवश्य रखता है। पुरुष जितना सहनशील, सकाम, दृढ़ एवं प्रौढ़ होगा नारी की शरीरातीत निगूढ़ता उसे उतनी ही रुचिकर लग सकती है और उस का असत्य भी उसे प्रिय प्रतीत हो सकता है। केवल आवश्यकता मूलभूत प्रगाढ़ आस्था एवं विश्वास की होती है जिस के खण्डित होते ही सारा सम्बन्ध टूटकर बिखर जाता है। उस के बाद जितनी भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाती है उस की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है क्योंकि पूरी तरह वह अनुभव की सीमा में आ ही नहीं पाती। मृत्यु उस यातना की तुलना में हज़ार गुनी वरेण्य लगती है। उसे सहकर जीवित बने रहना पुनर्जन्म पाने जैसा प्रतीत होता है। जब पुरुष प्रकृति के दोषों को देख लेता है, तब सांख्य मत के अनुसार प्रकृति उस पुरुष के पास जाने का साहस नहीं करती। इस से प्रकृति की निवृत्ति सिद्ध होती है।

यथा :

> रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते यथा रङ्गात्।
> पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते तथा प्रकृतिः॥
>
> —सांख्यकारिका, षड्दर्शन रहस्य, पृ. २३५

शुद्धाद्वैत मत में पुरुष क्रियाहीन 'पंगु' माना गया है तथा प्रकृति दृष्टिहीन 'अन्ध'। इस प्रकार दोनों सम्बन्धों को 'पंग्वन्धसम्बन्ध' की संज्ञा दी गयी है। पुरुष के लिए प्रकृति की सृष्टि करने में प्रवृत्ति युक्ति-युक्त हो सकती है परन्तु निवृत्ति में किसी प्रकार की युक्ति नहीं दीख पड़ती। इस का उत्तर नर्तकी के दृष्टान्त से मिलता है जो पुरुष को अपना नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है। पुरुष को कैवल्य के लिए प्रकृति की अपेक्षा रहती है, प्रकृति को अपने प्रदर्शन के लिए पुरुष की अपेक्षा[2]।

---

१. 'मेरी सफलता का सिंहद्वार', आगामी कल, ३० अप्रैल, १९७२।
२. षड्दर्शन–रहस्य : पृ. २३४।

लौकिक सम्बन्ध पुरुष-प्रकृति के दार्शनिक द्वैताद्वैत तक सीमित नहीं है। दोनों का अनेकत्व सम्बन्धों में अकल्पनीय जटिलता उत्पन्न करता रहता है। जिस के बीच अपने को पाना या अपनेपन का अनुभव करना एक नयी खोज जैसा लगता है। कभी भावोन्माद में कहीं अपने को पा लेना या दे देना मात्र पर्याप्त नहीं है। एक साथ निरन्तर सविवेक स्वयं को देते और पाते रहना ही युग्म-भाव का सही बोध कहा जा सकता है। आधुनिक जीवन-सन्दर्भों में मध्यकालीन खण्डित मर्यादाओं से मन के घिरे होने के कारण वह पूरी तरह अनुभव में नहीं आ पाता है किन्तु उस की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर सशक्त रूप में होती जा रही है यह निर्विवाद है। सड़ी-गली मर्यादाएँ उसी के द्वारा तोड़ी-बहायी जा रही हैं अन्यथा लोभ आदमी को कीड़े और चूहे से भी बदतर बनाये हुए है। प्रेमानुभूति कोई जड़ स्थिति नहीं है, वह एक अनुपेक्षणीय गतिशील प्रक्रिया है जो श्वास की तरह सहज होकर व्यक्तित्व का अंग बन जाती है और मनुष्य को लगने लगता है कि उस का अभाव वस्तुतः निष्प्राणता का द्योतक है। जैविक स्तर तक उतर जाने के बाद ही उस का गहरा अर्थ समझ में आ पाता है अन्यथा 'प्रेम' से बढ़कर घटिया और सस्ती बातें और किस सन्दर्भ में की जाती हैं? आज प्रियता के अनेकमुखी रूपों की आपसी टकराहट ज़्यादा उभर आयी है बनिस्बत प्रियता के प्रकारों की सहवर्ती स्थिति के। उस में बहुत अप्रिय अवांच्छित विष भी घुला-मिला रहता है जिस के बीच आत्मीयता के अमृत को अलग पहचानते हुए बूँद-बूँद सँजोना पड़ता है, पर सच बात तो यह है कि दोनों को पूरी तरह बिलगाना सम्भव नहीं हो पाता है। विष का प्रभाव भी अमृत से कहीं ज़्यादा तेज़ और तीखा होता है।

मानव-मन जिसे स्वीकार कर लेता है समाज को किसी न किसी रूप में उसे स्थान देना ही होता है। पर यह उतना आवश्यक नहीं है कि जिसे समाज स्वीकार कर चुका हो या आगे स्वीकृत करता जाये, मानव-मन उसी का अनुसरण करता रहे। मनुष्य में जो अंश अव्याख्येय होता है वही उस का सब से मूल्यवान् अंश भी होता है। इस का अर्थ यह नहीं है कि मैं रहस्यवाद का पक्षपाती हूँ वरन् यह कि व्याख्या की प्रतीक्षा करनेवाली संस्कृति उस संस्कृति से बड़ी होती है जो हर चीज़ को ग़लत-सही व्याख्या देकर प्रस्तुत करने की आदी हो जाती है और उतावली में उस सूक्ष्म मानसिक संघर्ष की उपेक्षा कर देती है जो व्यक्तित्व में निखार लाता है और नये मानव-मूल्यों के अन्वेषण की ज़मीन तैयार करता है।

मानव सम्बन्ध युगानुरूप नये साँचों में ढल रहे हैं। जिन की चेतना सर्वथा रूढ़ि-ग्रस्त या जड़ीभूत हो चुकी है अथवा भारी पूर्वाग्रह से युक्त है उन से मुझे कुछ भी नहीं कहना पर जिन में चिन्तनपरक उर्वरता शेष है और जो काव्य को मनोरंजन के स्तर से ऊपर उठकर आत्माभिव्यक्ति के श्रेष्ठतम माध्यम के रूप में देख सकते हैं, मेरी यह कविताएँ उन्हीं को सम्बोधित हैं क्योंकि मुझे विश्वास है कि वे नैतिकता को सतही तौर पर ही नहीं लेंगे प्रत्युत मानव-मन की जटिलता भरी गहराइयों में पैठ-

कर उस के सच्चे स्वरूप को समझने और आकलित करने के लिए उत्सुक होंगे। मन की जीत-हार छोटी चीज़ नहीं होती वह हमारे प्रेरणा-जगत् का निर्माण करती है और मनुष्य में अन्तर्निहित शक्तियों को चुनौती देकर उन्हें उकसाती-उभारती रहती है। प्रेरणाहीन प्राणी के लिए ऐसा कुछ भी करना सम्भव नहीं होता जिसे आँख उठा कर देखा जा सके। चरम तन्मयता के क्षणों की अनुभूति नयी कविता में अभिव्यक्त न हुई हो ऐसी बात नहीं है पर तत्त्वतः नयी कविता की भीतरी बुनावट में एक तो आत्म-विभोरता के तन्तु उतने नहीं रहते जितने प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य में मिलते हैं दूसरे इन तन्तुओं के ताने में विचारशील मनस् की जागरूकता का बाना इस तरह गुँथा हुआ मिलता है कि एक अजब ढंग का खुरदरा रूप-बोध एवं विषम स्पर्श-सुख मिलता है तथा अपरिचित सौन्दर्यानुभूति कलाकार या सच्चे समर्थ भावक के लिए सम्भव नहीं है। मिश्रित आस्वाद और विसंगतियों का सौन्दर्य दोनों ही नयी कविता और नयी कला के प्रमुख परिचायक कहे जा सकते हैं।

क्रान्तिकारी विचारधारा आज व्यापक रूप में 'तर्कसंगत नैतिकता' से ऊब चुकी है, उसे उखाड़ फेंकना चाहती है। मैं भी 'तर्कसंगत नैतिकता' को उथला और अपर्याप्त ही नहीं, सचाई का विरोधी तथा झूठ और बेईमानी का कवच मानता हूँ। यह अतिरिक्त साहसिकता का प्रदर्शन नहीं है वरन् मेरा इस विचार-पद्धति पर विश्वास है। जीवन की सही पहचान तर्कातीत होकर ही की जा सकती है। यथा—'नैषा तर्केण मतिरापनेया'। तुलसी के राम अन्ततः तर्क से परे हो जाते हैं—'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी' और वाल्मीकि के राम धर्म का साकार रूप ही हैं—'रामो विग्रहवान् धर्मः'। अगर इन दोनों अनुभवसिद्ध उक्तियों में कोई सत्य है तो यही निष्कर्ष निकलता है कि 'धर्म' अर्थात् जीवन का सहज स्वभाव तर्क का बन्धन नहीं मानता। तर्क पहुँचने का रास्ता भर है गन्तव्य नहीं। मेरा निजी जीवनानुभव इस का साक्षी है। तर्क से हम अपनी मान्यताओं को सिद्ध कर सकते हैं, दुर्बलताएँ और दोष दिखा सकते हैं पर अपने को उन से बिलगाना विवेक के द्वारा ही सम्भव है। पर हमारा श्रेष्ठतम विवेक गीता में यह कहता है कि अगर कोई चीज़ स्वभाव का अंग हो चुकी हो और वह विगुण हो तो भी उसे त्यागना ठीक नहीं है—'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः' इसी लिए अन्ततः 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' ही निष्कर्ष वाक्य हो जाता है और सारा जीवन अपने में स्वधर्म की पहचान का एक सतत जागरूक प्रयत्न बन जाता है। ऐसा प्रयत्न जो जीवन के क्रम में ही उसे पहचानने की प्रेरणा देता है। जीने को बालाये-ताक़ रखकर मृतवत् उस का परीक्षण करने का सन्देश उस में नहीं है। संक्षेप में कहूँ तो मैं ने अभी तक इतना ही समझ पाया है कि जिन्दगी को, अपने को झुठलाये बिना या गुट्ठल बनाये बिना, सच्चे अर्थों में जीना ही वास्तविक जीना है। जीवन यदि धारदार नहीं है तो वह मेरी नज़र में कुछ भी नहीं है और उस में धार तभी आती है जब आत्मोत्सर्ग गहरा हो या ढलान बहुत तीखा हो। जो इस से कम में सन्तुष्ट हो जाये वह कवि नहीं हो सकता, साधन-सम्पन्न सुखी व्यक्ति भले ही

हो जाये।

धर्म और नैतिकता के प्रदर्शनीय या प्रचलित सामाजिक रूप से उन का निजी अनुभवपरक रूप अधिक महत्त्वपूर्ण होता है ऐसी मेरी निश्चित धारणा है। यह बात इस देश की संस्कृति ने जितनी दृढ़ता से ग्रहण और प्रतिपादित की है वह आज भी उपेक्षणीय नहीं है। इस में समाज के प्रति उपेक्षा या तिरस्कार का भाव नहीं है वरन् सत्य के वास्तविक साक्षात्कार का आग्रह है जो हर तरह केन्द्रीय महत्त्व रखता है। संसार के सभी धर्मों में नैतिक आचरण का एकमात्र आधार दूसरे प्राणी को अपने समान समझना है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' इसी का दार्शनिक रूप है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' इसी की स्मृतिपरक स्वीकृति है। 'यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्' में गीता का भी यही विधान है। बाइबिल-क़ुरान आदि अन्य धर्मों के मान्य ग्रन्थों में भी मुख्य तत्त्व इसी को माना गया है। नैतिकता का यह मूलभूत आधार जितना युग्म-भाव के क्षेत्र में खरा उतरता है उतना अन्यत्र नहीं। कसौटी पर कसना ही नहीं, यहाँ तो वह खराद पर भी चढ़ा दिया जाता है।

'स्व' और 'पर' का इस देश में आध्यात्मिक स्तर पर जितना निषेध मिलता है, व्यावहारिक स्तर पर उन के प्रति उतना ही आग्रह दिखाई देता है। फलतः चिन्तन और आचरण के बीच की यह खाई व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास में बाधक होती है। सम्पत्ति और स्त्री के विषय में वर्जनाएँ और भी उग्र हो जाती हैं जिस से लगता है जैसे 'धर्म' और 'मोक्ष' ही पुरुषार्थ हो, 'अर्थ' और 'काम' पुरुषार्थ हों ही नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में 'वैयक्तिक-सम्पत्ति' की अवांछित धारणा ने उन की उपलब्धि के क्षेत्रों को इतना सीमित कर दिया है कि पुरुषार्थ की न तो पूरी अपेक्षा ही होती है न प्रतीति। यह स्थिति सर्वथा अस्वाभाविक और कृत्रिम है। नये सामाजिक मूल्य चिन्तन, मनन और कर्म के बीच की खाइयों को तीव्र गति से पाटते हुए विकसित होंगे ऐसा मेरा विश्वास है। सतीत्व का महत्त्व जो सती-चौरों, सती-स्तम्भों में शिलांकित मिलता है बीते हुए युग की वस्तु बन गया है। स्त्री की प्रतिष्ठा समाज में हो इस के लिए यदि पातिव्रत का मूल्य चुकाना पड़े तो भी वरेण्य है ऐसा मर्यादावादी चिन्तक भी सोचने लगे हैं।

और अब इस देश की तेजस्वी नारियों को भी लगने लगा है कि भावी समाज की नायिका पांचाली होगी या दुर्गा। लोहिया जी तो द्रौपदी के व्यक्तित्व की असाधारणता से इतने प्रभावित थे कि उस का गुणगान करते अघाते नहीं थे। समसामयिक कविता में भी उस के प्रति गहरी सहानुभूति बदलते हुए युग-मानस का परिचय देती है।

२

हिमविद्धता के तलस्पर्शी, सर्वग्राही, नैसर्गिक अनुभव ने मुझे जिस जगह पहुँचा दिया था वहाँ से अपने को किसी दूसरी दिशा में मोड़ पाना स्वयं मेरे लिए सम्भव नहीं था। पर जब रचनाकर्मी मन एक सृष्टि पूरी कर लेता है तो उसे श्रम की प्रतीति, विश्राम की इच्छा तथा नयी संलग्नता की आकांक्षा तीनों एक साथ घेर लेती हैं। विराम, चाहते हुए भी, मिल नहीं पाता। मेरे लिए यह सोच पाना सम्भव नहीं था कि आँख और मन को अपने में डुबा लेने वाले बहुविध, सीमाहीन रंगरूपाकार-बोध से मैं अपने को कब और कैसे अलग कर पाऊँगा। कुछ ऐसा होगा जो मुझे उस से भी अधिक गहराई और तीव्रता से बरबस अपनी ओर प्रवृत्त कर लेगा इस की तो कल्पना भी मुझे नहीं थी। मैं उस के लिए प्रस्तुत भी नहीं था पर जीवन में सब कुछ प्रत्याशित रूप में ही घटित नहीं होता। पग-पग पर छद्म रूप रखकर सामने आनेवाली उस की नाटकीयता न जाने कितनी विस्मयजनक स्थितियों का सृजन कर के हमें कहाँ से कहाँ ले आती हैं। लेकिन नयी मनःस्थिति में पहुँच जाने पर और विश्रमित सृजनशीलता के पुनः जाग उठने के बाद जो कुछ मुझे अनुभूत हुआ वह पूर्वानुभव से भी असाधारण लगा।

मनुष्य के मन की ऊँचाइयाँ हिमशिखरों से कम नहीं होती हैं वरन् मुझे तो वे कहीं-कहीं कुछ अधिक ही दिखाई दीं। गहराइयाँ तो घाटियों-दरारों की तुलना में और भी ज़्यादा रमणीक, भयावह तथा स्पर्शातीत लगीं। मनोभावों की गहनता चीड़ और देवदारुओं की विशाल पंक्तियोंवाले संख्याघाती सीड़ भरे वनों की छायामयी सघनता से किसी प्रकार न्यून प्रतीत नहीं हुई। दिशा को इस छोर से उस छोर तक पीला कर देनेवाली उद्धत दावाग्नि की अन्तर्दाही अनुभूति तो आदि से अन्त तक मुझ में व्याप्त रही। उस की धुँधुआती क्रूर लपटों के बीच घिरे हुए तड़फड़ाते हिरन की कातर छलाँगों की बेचैनी और अन्ततः दरार फाँदकर बच जाने का अजब सा चैन मैं कभी नहीं भूल सका—जिस का 'हिमबिद्ध' में मैं ने उल्लेख किया भी है। शायद उसी की अभिशप्त छाया इन पंक्तियों में उतर आयी है :

अधरों ने अधरों पर
अकथनीय दंशों की कथा लिखी।

मुझे लगा, धुआँधार दावानल में जलते
हिरने की व्यथा लिखी ।।

आँधी-तूफ़ान और बादल-बिजली जैसे आकाश को घेरकर सारे पर्वत-प्रान्त को झकझोर जाते हैं वैसे ही मन के भीतर अगणित झंझावात आते-जाते रहते हैं। व्यक्ति इन्हें एक साथ झेलता भी रहता है और देखता भी रहता है। झेलना मन को कुछ परिपक्वता दे जाता है तथा देखना आँख को रूप की तृषा से भर जाता है फिर, स्रष्टा-द्रष्टा दोनों मिलकर अपने ही विरुद्ध नया स्वाँग रचने लगते हैं। निरपेक्षता सापेक्षता में यों डूब जाती है जैसे वह कभी थी ही नहीं। 'मुझे फिर मेरा गहन एकान्त दो' वाली अनुभूति बहुत पीछे छूट जाती है। युग्म की सारी रेखाकृतियाँ, सारी कविताएँ कुछ ऐसी ही मानसिक पृष्ठभूमि में रची गयी हैं। समस्त रेखा-चित्र किसी पूर्व-निर्धारित रूप-विन्यास पर आधारित न होकर निरपवाद सद्यःस्फुरित आकृतियों से समन्वित हैं। रचना-क्रम में ही उन्हें अन्तिम रूप प्राप्त हुआ है। इन से पूर्वरचित मेरे बहुवर्णी चित्रों में जो युग्म अंकित हुए हैं उनमें मार्दव के साथ ही शैलीबद्धता भी अधिक मिलती है। शृंखलाबद्धता या अनुक्रम भी उन पर आरोपित नहीं किया गया है वरन् एक प्रकार से वह उन्हीं में सन्निहित था जो अपनेआप प्रकट होता गया। कोई भी रेखांकन किसी कविता के आश्रित होकर नहीं रचा गया और न कोई कविता किसी चित्र पर आधारित कही जा सकती है। यत्र-तत्र जो थोड़ा-बहुत साम्य लक्षित हो जाता है वह इसी लिए कि दोनों एक मूल से उद्भूत हुए हैं। चित्रों की निर्मिति प्रारम्भ में कुछ दूर तक कविताओं के समानान्तर हुई परन्तु बाद में यह स्थिति नहीं रही। एक सीमा पर जाकर रेखांकन-क्रम प्रायः रुक गया किन्तु कविताओं की रचना 'युग्म' को अन्तिम रूप देने तक चलती रही। उन की रचना-प्रक्रिया इतनी बहुमुखी और अनेक स्तरीय है कि उस के विषय में स्वतन्त्र रूप से कहीं अलग लिखना ही उचित होगा। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि अधिकांश कविताएँ भी चित्रों की तरह अपूर्वनिर्धारित रूप में प्रकट हुई हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर उन में संक्षेप, परिवर्धन, शब्दान्तर तथा रूपान्तर करने की स्थितियाँ बहुत कम आयी हैं। यों परिष्करण एवं परिवर्तन को मैं रचना-प्रक्रिया का स्वाभाविक अंग मानता हूँ, तब तक, जब तक रचनाकार उस से अपने को सर्वथा मुक्त अनुभव न करने लगे। यह तभी सम्भव होता है जब शब्द-पाक की अवस्था आ जाती है। हर कवि, हर कलाकार एक सीमा तक रचना के भीतर समाया हुआ उसे तोड़ने-मोड़ने बनाने-सँवारने में लीन रहता है। धीरे-धीरे उसे लगने लगता है कि वह जिस रचना में अपने को समाया हुआ अनुभव करता रहा है वस्तुतः वही उस में समायी हुई थी और अब पूर्णता प्राप्त कर के एक सर्वांगपूर्ण शिशु की तरह जन्म लेने जा रही है। जैसे माता को शिशु के गर्भस्थ होने का बोध तो होता है और उस के संवहन में असह्य पीड़ा भी सहनी पड़ती है पर जो आन्तरिक परितोष, आत्मिक आनन्द तथा जन्म लेने पर

नवजात के स्वरूप को भर आँख देखने की अकल्पनीय उत्सुकता और ललक उस में होती है वह बहुत-कुछ एक रचयिता के अनुभव में भी आती है जैसे जन्मदाता के संस्कार आत्मज शिशु में उतर आते हैं वैसे ही रचनाकार का व्यक्तित्व सुगन्ध की तरह रचना में समाहित हो जाता है। यदि वह व्यक्तित्व कच्चा या विकृत है तो रचना भी क्षणिक तथा सदोष सिद्ध होती है। जिन चित्रों और जिन कविताओं ने मेरे भीतर से जन्म लिया है और जिन के भीतर मैं ने अपनी आत्मा की छाप देखी है उन से एकदम निरपेक्ष हो पाना अभी मेरे लिए सम्भव नहीं है अतः मैं इतना ही कह सकता हूँ कि यदि वे किसी एक को भी आत्मीय लगीं तो मैं समझूँगा कि मैं ने कहीं न कहीं अपनी सीमा तोड़कर उस बिन्दु को छू लिया है जिसे स्पर्श किये बिना कोई भी व्यक्तिगत अनुभव रचनात्मक नहीं माना जा सकता। वास्तविक मूल्य उसी मूल्य तक पहुँचने के बाद उत्पन्न होता है। उस के आगे कौन कितना गया इस का निर्धारण वही कर सकता है जो स्वयं आगे की भूमियों से परिचित हो। हर एक के मत का मेरे निकट विशेष महत्त्व नहीं है। अपनी असमर्थताओं से मैं भलीभाँति परिचित हूँ क्योंकि इतना जीवन उन्हीं के साथ गुज़ारा है। अगर कोई उन का शिकवा करेगा तो मैं उस का क़तई बुरा न मानूँगा वरन् कृतज्ञ होऊँगा कि उस ने उन्हें अपने से अलग, मेरा समझ-कर पहचाना तो।

यह कविताएँ उन विभिन्न मनःस्थितियों की द्योतक हैं जो मूलतः असम्बद्ध नहीं हैं पर उन में गणित जैसी संगति खोजना या परस्पर विरोधी भावनाओं को असंगत मान लेना ग़लत होगा। मनोव्यापार गहराई में कितने जटिल होते हैं और भावना का कौन सा सूत्र कब किस के आड़े आ जाता है, कब किसे कतर देता है, और कटे हुए को फिर कहाँ किस से जोड़ देता है यह समझा तो जा सकता है पर समझाना कठिन है। कभी-कभी एक ही सूत्र अपने में उलझकर टूट जाता है और गाँठें पड़ने से गठीला हो जाता है। जहाँ सूत्रों की अनेकता रहती है वहाँ उलझाव बढ़ जाता है। किस सूत्र ने कब किसे शक्ति दी और दूसरे को कहाँ झकझोर दिया तथा अन्यों पर उस का क्या प्रभाव पड़ा यह भी समझने की ही चीज़ है। इस जटिलता में कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि लेखनी थककर अपने ही लिखे को गोंचने लग जाती है। कवि इन अकथ अनुभवों को कहने की कोशिश तरह-तरह के ख़तरे उठा कर ही करता है। कविता उसे विचित्र रूप में एक आत्मीय व्यक्ति की तरह सहारा देती है और वह उसे उतनी ही आत्मीयता से अवलम्ब प्रदान करता है पर इस आत्मीयता के सम्पूर्ण व्यापार में अपने से विलग हो जाने की एक निर्मम प्रक्रिया भी चलती रहती है जिस को सहने का भार अकेले कवि को उठाना पड़ता है क्योंकि कविता तो अन्ततः निर्वैयक्तिक हो जाती है। उस की संवेदना का मुख कवि की ओर से हटकर भावकों की ओर मुड़ जाता है। कवि उसे अपने से विमुख होते देखकर दुखी भी होता है और सुखी भी। इस खट्टे-मीठे अनुभव को कोई दूसरा कवि ही जान सकता है।

पिछले खेवे की, मिलते-जुलते सन्दर्भ की रचनाओं में दिनकर की 'उर्वशी' (तीसरा अंक) और भारती की 'कनुप्रिया' (आद्यन्त) विशेप प्रभावपूर्ण लगीं। 'कनुप्रिया' 'उर्वशी' से पहले की कृति है। उस का अन्त शुरू में कुछ दूसरे ढंग से होने जा रहा था पर मुझे उस से असन्तुष्ट देखकर भारती की लेखनी ने स्वयमेव उसे व्यापक युग-सन्दर्भ देकर नये रूप में सँवार दिया। फिर भी मुझे लगता है कि उस का मीठापन इतना गाढ़ा है कि आज का युग उसे पूरी तरह आत्मसात् नहीं कर सकता। उक्त दोनों काव्य-कृतियाँ पौराणिक प्रतीकों को माध्यम बनाकर उन की आदर्शवादिता और अतिशयतापूर्ण प्रकृति का सहारा लेते हुए अपनी बात कहती हैं। जो प्रेमानुभूति उन में व्यक्त हुई है वह हमारे समसामयिक परिवेश से दूर और असहज नाटकीय मुद्राओं से युक्त दिखाई देती है। मार्मिकता का अनुभव होते हुए भी एक व्यवधान बीच में आ ही जाता है। 'युग्म' में भाव-भूमि हर जगह रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के नज़दीक रही है। पौराणिक प्रतीक वस्तुगत माध्यम के रूप में तो आये ही नहीं हैं, अप्रस्तुत-विधान में भी उन की अधिकता एवं प्रमुखता नहीं है। यह विभेद अपने में बहुत महत्त्व नहीं रखता, पर वह है और उस का रचना के पूरे ताने-बाने से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसी लिए मैं ने उल्लेख कर दिया। एक अन्तर यह भी है कि उन दोनों रचनाओं में नारी-केन्द्रित दृष्टि अपनायी गयी है जब कि 'युग्म' में वह प्रधानतया पुरुष-केन्द्रित है। कथन-शैली पर इस का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। युग्म-भाव अन्य अनेक रचनाओं में अनुस्यूत है पर उस के विषय में मेरी धारणा सर्वथा भिन्न है। 'कंकावती' में राजकमल चौधरी ने बाँग्ला की भूखी पीढ़ी से मानसिक संगति रखते हुए जो अत्याधुनिक अभिव्यंजना-शैली अपनायी है वह मेरी पहुँच के एकदम परे है। मुझे जो काव्य-रूप रास आया मैं ने उसी को अपनाया है। युग्म-भाव की अन्तरंग स्थितियों की एक बहुमुखी गाथा प्रस्तुत करते हुए भी मुझे नंगे यौन प्रतीकों की परतन्त्रता ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। सही बात तो यह है कि आज की कविताओं में उन की बहुलता काफ़ी दूर तक दिखावटीपन की द्योतक है। नंगे सत्य को देख लेना आसान है पर उस को झेल जाना और पचा जाना मुश्किल होता है। लगातार उसे देखते रहना और बराबर उस के नज़दीक बढ़ते जाना तो एकदम अस्वाभाविक है क्योंकि सम्पाती की तरह उस से पंखों के झुलस जाने का ख़तरा रहता है। सूर्य के प्रखर ताप की सापेक्षता में मेघमाला का मायिक आच्छादन अधिक आकर्षक लगता ही है। माया जब छाया-रूप में सामने आती है तो उस से प्रिय और कुछ नहीं लगता पर जब छल-प्रपंच और कपट के रूप में अपने को प्रकट करती है तो मन को स-कल बनाने की जगह वि-कल ही बनाती है। परितोष की गम्भीरता और स्थायित्व से ही अनुभवशील वस्तुओं की मूल्यवत्ता का आकलन होता है। सचेतन के सम्पर्क में आने पर परितोष का रूप उभयात्मक होता है, अचेतन के सम्पर्क में एकपक्षीय। युग्म-भावना सचेतन सम्पर्क की ही एक विशिष्ट परिणति है।

भली-बुरी जैसी भी हों, 'युग्म' की यह कविताएँ विशुद्ध मानवीय धरातल पर लिखी गयी कविताएँ हैं। विषयवस्तु के रूप में किसी पौराणिक कल्प-कथा या मिथक से इन्हें जोड़कर इन में निहित अनुभूति को रूपान्तरित करने की चेष्टा नहीं की गयी है। उस से निश्चय ही इन का निजत्व खो जाता, भले ही एक आवरण इन के उघरेपन को ढँक देता।

मुझे लगता है कि कविता में अर्थ-ध्वनियाँ स्वयं एक ऐसा आवरण बुन देती हैं कि भावना की नग्नता अपनेआप ढँक जाती है या प्रतिभासित ही नहीं होती। उन्हें किसी अन्य उपकरण से ढँकना कभी-कभी अनावश्यक और निरर्थक भी हो जाता है। यदि इन का सीधापन वैसे सौन्दर्यावरण या 'दिक्-अम्बर' से आच्छादित न दिखाई दे और इन की वैयक्तिकता शायरी की जगह डायरीनुमा लगने लगे तो मैं मानूँगा कि मैं कवि-कर्म में असफल रहा। कवि के नाते मेरी आकांक्षा तो यही है कि अपने प्रत्येक पाठक के मन में पैठकर उस की सच्ची प्रतिक्रिया उस के अनजाने में ही जान सकूँ, यद्यपि ऐसा सम्भव कहाँ हो पाता है। देर-सवेर अपने शब्द की प्रतिध्वनि सुनने की ललक प्रत्येक कवि की मजबूरी होती है जिस से मुक्त होना मेरे लिए भी सम्भव नहीं है।

मैं नहीं मानता कि स्नेह-प्रेम अब मात्र व्यंग्य और विडम्बना की ही वस्तु रह गया है अथवा उस को नयी कविता में स्वीकारात्मक रूप में न ला कर केवल नकारात्मक रूप में लाना ही उचित है। कला और साहित्य के क्षेत्र में कोई भी युग-धर्म हमें इतना नहीं बाँध सकता कि हम आगे और पीछे से अपने को काटकर प्रवाहहीनता के प्रतीक बन जायें। मानवीय अनुभव सदैव किसी न किसी प्रवाह की प्रक्रिया में सार्थकता ग्रहण करते हैं अतः अपने को प्रवहमानता से विच्छिन्न कर लेना प्रकारान्तर से वृक्ष को उन्मूलित करने जैसा लगता है जो किसी भी प्रकार न मुझे काम्य है और न वरेण्य।

'तुम' का प्रयोग मैं ने वस्तुपरक ही नहीं आत्मपरक भी किया है और सम्बोधित व्यक्ति जहाँ 'व्यक्ति' रूप में सामने आया वहाँ स्त्रीवत् किन्तु जहाँ 'व्यक्तित्व' रूप में प्रकट हुआ वहाँ पुरुषवत् सम्बोधित किया गया है। भाषा ने अभीष्ट को तदनुरूप प्रकट किया है जो ऊपर से असंगत लग सकता है। नयी कविता की भाषा का मुहावरा हिन्दी-उर्दू के मेल से बना-सँवरा है। इन कविताओं में भी मेल-जोल का वह गंगा-जमुनी रूप साफ़ देखा जा सकता है। बोल-चाल से भाषा वहीं दूर गयी है जहाँ उसे बोलते हुए चुप हो जाने की अनिवार्यता जान पड़ी या चुप रहते हुए बोलने की जरूरत महसूस हुई। सोच-विचार ने भी कहीं-कहीं उसे दूसरी दिशा में मोड़ दिया है, स्वगतों की सी एकान्तिक मनःस्थिति में तो वह बहुत मुखर हुई है। मानो उसे किसी प्रत्यक्ष श्रोता की अपेक्षा ही न रही हो। परोक्ष में कोई सुन ले ऐसी भावना तो स्वगत-सम्भाषणों में रहती ही है।

यह 'युग्म' नाम कई अर्थों का संवहन करता है, पहले अर्थ में कविताओं के

साथ इस में चित्रों की श्रृंखला है और दोनों में किसी को एक-दूसरे से अप्रधान नहीं कहा जा सकता। दोनों में अनुभूतियों का वही प्रवाह विभिन्न प्रकार की पूर्वापर स्थितियों में निजी विशेषताओं के साथ बहुत-कुछ स्वतन्त्र रीति से व्यक्त हुआ है। न चित्र कविताओं के आश्रित होकर रचे गये हैं, न कविताएँ चित्रों पर आधारित हैं। दोनों में से कोई किसी का मुहताज नहीं है फिर भी एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह उन्हें अलग करना सम्भव नहीं हुआ। इसी लिए उन्हें सहवर्ती स्थिति में प्रकाशित करना रचना एवं रचनात्मक अनुभूति दोनों के प्रति ईमानदारी की माँग के कारण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी प्रतीत हुआ है।

दूसरे और अधिक गहरे एवं वस्तुगत अर्थ में यह सृष्टि के आदिम सहचर स्त्री-पुरुष की सहज मनोभूमि पर निरन्तर उपजनेवाले असीम आकर्षण-विकर्षण के पारस्परिक घात-प्रतिघात की उलझी-सुलझी संवेदनाओं को नये दैनन्दिन सन्दर्भों में रूपायित करने का एक विशिष्ट प्रयत्न है।

झूठ-सच, पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक, उचित-अनुचित के अनेक द्वन्द्व जो सारे रचनात्मक विस्तार में रूढ़ अर्थों को तोड़कर बाहर आने के लिए छटपटाते हुए दिखाई देते हैं, व्यक्ति और समाज की अन्विति के भीतर एक (प्रिज़्म) बहु-पार्श्वी शीशे की तरह अनेक युग्मों की सृष्टि करते दिखाई देते हैं। जय-पराजय के अगणित प्रयत्नों में वे कभी सफल कभी असफल होते रहे हैं पर सारी गति उन्हें द्वन्द्वातीत स्थिति की ओर ले जाती दिखाई देती है जो किसी आध्यात्मिक फ़ॉर्मूले से बँधी न होकर अनुभव की परिधि पर अपने को टिकाये रही है।

व्यापक जीवन-प्रवाह की सहजता में ही मानवीय आकांक्षाएँ अपना अर्थ रखतीं। अब यह ज़रूरी नहीं रहा कि वे उदात्त ही हों।

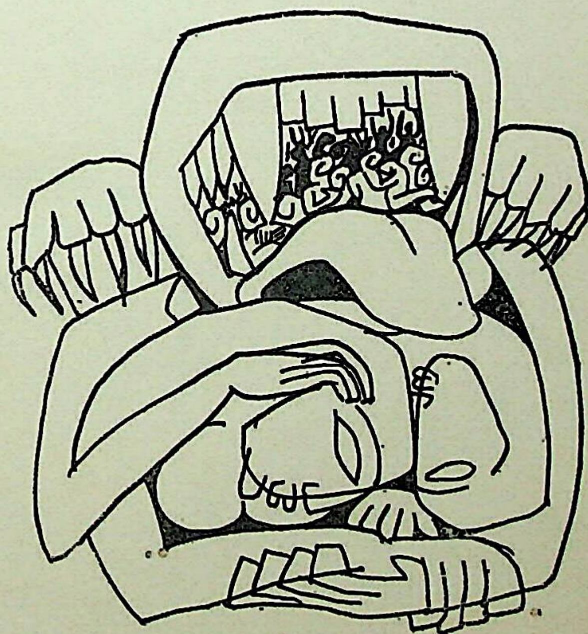
यदि किसी सह-अनुभूतिशील आँख के द्वारा वे सही रूप में पहचानी जा सकें तो मैं कहूँगा कि मैं ने उन्हें मछलियों की तरह तैरते रहने की छूट दी है। किसी आरोपित विचार-पद्धति के जाल में फाँस कर उन को प्रवाह से अलग कर के योग्य बनाने की चेष्टा नहीं की है। प्लेट में परोसी गयी तली मछली ने मुझे कभी आकर्षित नहीं किया। मुझ को तो जल में तैरती हुई सजीव मछली हमेशा अच्छी लगती है—फिर चाहे वह सरोवर हो, नदी हो या समुद्र। हाँ, ऐक्वेरियम की शीशे की दीवारें आकर्षक होते हुए भी कुछ बाधा अवश्य पहुँचाती हैं क्योंकि वे मछली की स्वाभाविक गति को बीच में ही तोड़ या मरोड़ देती हैं। मछली को जल से अलग करना, कविता को अर्थगर्भित भाव से दूर रखना और मनुष्य को संवेदनाहीन यन्त्र मानना मुझे कभी रुचिकर नहीं लगा। संवेदनशीलता कोई अपराध नहीं है कि उस के लिए सफ़ाई पेश की जाये।

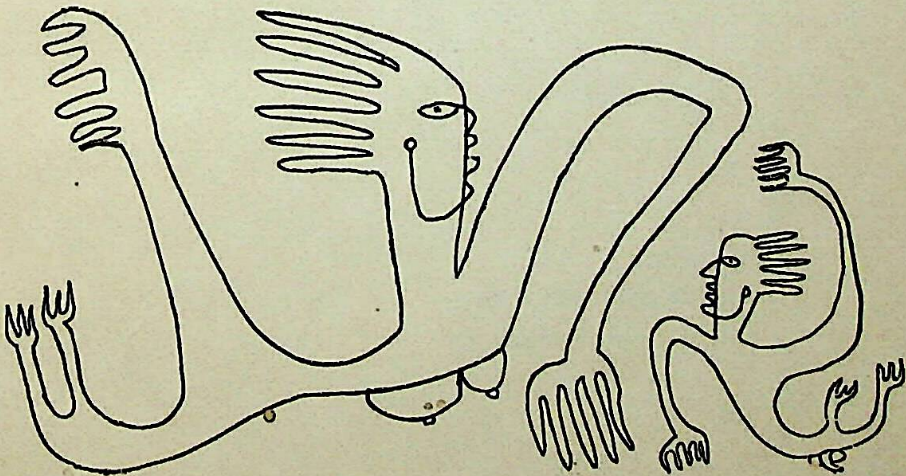
संयम और विवेक दोनों तट हैं जिन के बीच से आदमी की ज़िन्दगी को नदी की तरह गुज़रना पड़ता है। वे उसे दो ओर से बाँधते हैं, रूप देते हैं, पर आगे-पीछे दो ओर मुक्त भी किये रहते हैं कि प्रवाह सम्भव हो सके। जिस ने जल

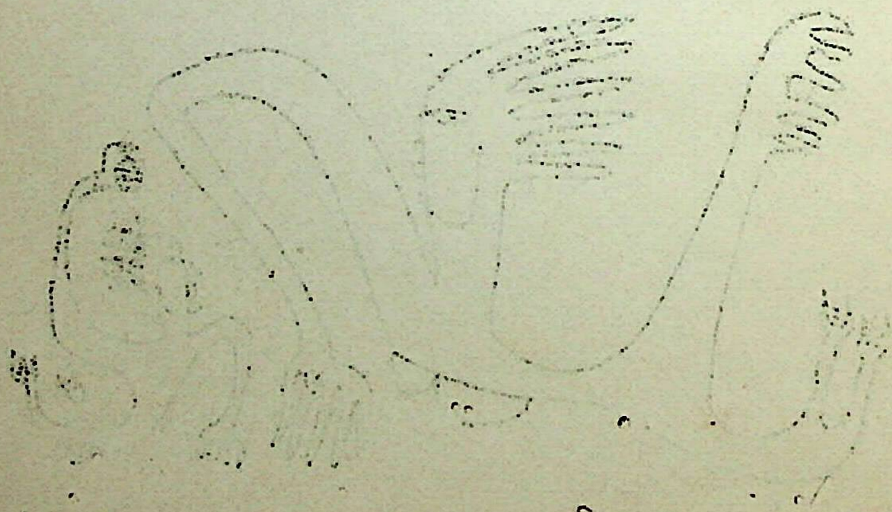
की उपादेयता और प्रवाह की अप्रतिहत शक्ति को नहीं पहचाना वह, मेरे विचार से, किसी भी मानवीय सन्दर्भ को ठीक ढंग से समझ नहीं सकता।

तट-बन्धों को तोड़कर बहना अथवा उन के आगे अपने को सर्वथा समर्पित कर देना, यह दोनों ही विकल्प प्रवाह-धर्म के प्रतिकूल नहीं हैं। यद्यपि मेरा झुकाव समर्पित होने की अपेक्षा तटों को तोड़कर बहनेवाले विकल्प के प्रति अधिक है क्योंकि उस में परिवर्तन की असंख्य सम्भावनाएँ छिपी रहती हैं।

शंकराचार्य आश्रम,
शाकम्भरी, सहारनपुर।
११-१०-७२







अनुप्रवेश

व्यक्ति के लिए व्यक्ति की चाह
एक सुगन्धित राह।

■

समुद्री दुर्ग

तुम ने
अपने मन के गहरे समुद्र में
एक अभेद्य दुर्ग बना रक्खा है।
मेरा आवाहन
तुम्हारे द्वारा—
केवल तरंगों में बहने
जल-क्रीड़ा में साथ-साथ रहने
और समुद्री आग में निरन्तर दहने
के लिए किया गया।

इतना ही नहीं
मेरा हाथ अपने हाथ में ले कर
उस दुर्ग की परिखा और प्राचीर भी
तुम्हीं ने पार करायी,
फिर अपना अन्तरंग रूप दिखाने के लिए
तुम्हारी ही आँखें मुझे अनेक गहन कक्षों तक ले गयीं

सीढ़ियों के बाद सीढ़ियाँ
गवाक्षों के बाद गवाक्ष
मैं सोचता रहा कि यही वह दुर्ग है
जिसे किसी ने कभी नहीं देखा,
और तुम न जाने क्यों इतना स्नेह और सम्मान दे कर
मुझे उस के भीतर तक ले आयी हो।

पर सहसा मैं ने पाया कि वे सारे के सारे कक्ष
तुम्हारी असली क़िलेबन्दी के बाहर ही हैं
और—
तुम्हारा निजी दुर्ग
इस दुर्ग के भी अन्दर कहीं और बना है।

सेना न तुम्हारे पास है, न मेरे
इस युद्ध में
अकेला मैं भी हूँ और तुम भी
मैं चाहूँ तो तुम्हारे
निजी दुर्ग को बलात् तोड़ कर
उस सिंहद्वार में प्रवेश कर सकता हूँ
जिसे तुम ने मुझ से अभी तक छिपाये रक्खा है,
पर मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि दुर्ग का टूटना
स्वयं तुम्हारा टूटना होगा
और तुम्हें तोड़ना, मुझे क़तई मंज़ूर नहीं है।

अपने भीतरी दुर्ग के सीलन भरे अँधेरे के साथ
तुम जैसी हो वैसी ही
एकाकी भटकती रहो—
प्राचीर के इस सिरे से उस सिरे तक।

समुद्र की तरंगों पर
अब तुम मेरी प्रतीक्षा मत करना
क्योंकि जहाँ से मैं
एक निश्चय के साथ चला जाता हूँ
वहाँ दुबारा लौट कर नहीं आता।

पहचान से अलग, हम

सूखा हुआ सोता
तुम्हारे अंजलि बाँधते ही
—फूट पड़ा,
जब मैं नहीं चाहता था
तो तुम ने मेरे अभेद्य—
शान्त, गहन एकान्त
को भेद कर
मुझ में प्रवेश क्यों किया ?

क्या तुम्हें नहीं लगा
कि मैं भीतर से
खँडहरों भरा सुनसान, निर्जन, बियाबान
जंगल हूँ, रेगिस्तान हूँ।
तुम्हारे पाँव के नीचे पड़ कर
कोई न कोई सूखा पत्ता—
ज़रूर चरमराया होगा,
एक एक कर, सारी अँधेरी सीढ़ियाँ उतरते हुए
तुम मेरे पास तक निडर कैसे चले आये?
उस आदिम भय को तुम ने कैसे जीता?
क्या कोई भी साँप तुम्हारे पैरों में नहीं उलझा।
शाम की परछाइयों की तरह
तुम्हारी अंजलि, तुम्हारी तृषा
—निरन्तर बढ़ती ही जा रही है,
सोता ऐसा फूटा कि फिर रुकने को
—आ ही नहीं रहा है।
क्या तुम्हें विश्वास है कि इस वर्षाहीन प्रलय के बाद—
जब नयी सृष्टि होगी
तो तुम मुझे पहचान सकोगे?
क्या यह अजस्र बहता हुआ जल
हमारे व्यक्तियों को डुबाये बिना छोड़ देगा?
क्या तुम भी मेरी नज़र में बे-पहचान होने के लिए
—तैयार हो चुके हो?
तुम यह क्यों नहीं समझते कि अपनी पहचान से अलग
हम और कुछ नहीं हैं।
और अगर हैं, तो हमारे लिए उस का कोई अर्थ नहीं है।

वर्षों का गणित

तुम यदि सहेज सको
लो अपनी अंजलि में
आज तक की आयु के

पूरे वर्ष दे रहा हूँ—
कुछ ऊपर
चार दशक
मुझ से तो गये ढरक।
धरती पर गिरे हुए पानी को
पूरा का पूरा उठाना असम्भव है,
फिर भी मैं दे रहा हूँ,
देने का भाव तो सम्भव है।
चाहो तो जोड़ लो
इन्हीं में, तुम भी—.
अपनी उम्र के बीते साल
माना, वे तुलना में
कम होंगे
काफ़ी कम।

सहमति तुम्हारी हो
तो आओ हम दोनों
अधिया लें जोड़ को
तुम्हें मिल जायेगा
प्रौढ़ता का मेरी
कुछ अंश—और
मुझे भी बाँटे में मिलेगा
तुम्हारे छल-उच्छल तारुण्य का
थोड़ा प्रदीप्त भाग।

आगे के वर्षों में
शायद यह सन्धि,
यह बँटवारा—
विषमय परिवेश से लड़ने को
हमें कुछ साहस दे
शक्ति दे,
सहज उत्सर्ग से पूरित
अनुरक्ति दे।

विश्वास का हाथ

विश्वास के हाथ की
पाँचों उँगलियाँ पंचगव्य है
वंचना की दोहरी दृष्टि
जिह्वा है तक्षक की

स्नेह में—
जो भी परीक्षित हो
अपने को पावन करे,
विष से—
नहीं तो, मरे।

विवशता

जैसा हूँ,
जहाँ हूँ,
जो भी कुछ
स्वतः सम्बद्ध है
होने से
चाहूँ तो भी
उस को छोड़ नहीं सकता हूँ।

आप ही
जो कुछ भी
छूट गया है पीछे
कर के प्रयत्न भी
अपने से उसे

फिर जोड़ नहीं सकता हूँ।
प्रातिभ ज्ञान से
आगत के पैरों की
आहट पहचान कर
मुड़ गयी जिधर आँखें
वहीं है दिशा गति की,
मन को अब उस पथ से
मोड़ नहीं सकता हूँ।

पंक्ति-सेतु

'मैं तुम में हूँ
और तुम मुझ में'
ऐसा कहने से शायद
यह कहना ज़्यादा मतलब रखता है
कि—
'तुम एक सत्य हो मुझ से बाहर,
और मैं एक सत्य हूँ तुम्हारे भीतर।'
इस से खुलनेवाले अर्थ में
एक के भीतर एक पिरोये हुए
प्रतिबिम्बों की पूरी पंक्ति उभर आती है।
हमें-भीतर और बाहर के बीच
एक ऐसा सेतु चाहिए
जो धार को निर्बाध बहने भी दे
और हमें अविभाजित रहने भी दे।
क्या हमारे आपसी प्रतिबिम्बों की पंक्ति ही
वह सेतु नहीं है?

प्रवाह और पाश

आँखों में अनुनय-विनय
बाँहों में मधु-संचय
अन्तर्संघर्ष में
ग्लानि, क्षोभ, भय पर जय,
यदि यह नहीं तो,
और क्या प्रणय ?

प्रवाहित मछली

मैं ने तेज़ बहते हुए पानी में
हाथ से एक मछली पकड़ ली,
पर वह तब से
मुझ में ही तैरने लगी है।
और अब—
मैं, न जाने कितनी दूर बह आया हूँ
—उस के लिए।

आवाहन

तुम अप्रतिहत नदी हो
तुम्हें रोकूँगा नहीं
आओ !
मेरे भीतर बह जाओ
तुम्हें टोकूँगा नहीं।
सारी नदियाँ
सिन्धु में आकर ठहर जाती हैं,
कौन यह नदी
जो अविचल सिन्धु को
साथ में अपने बहाये लिये जाती है ?
क्या तुम वही हो
जिस की प्रतीक्षा में
इतने दिनों
सागर के वक्ष में
वाडवाग्नि जलती रही ?

लासा

आँखों के भीतर
इतना लासा !
चिपक गये पंख,
फड़फड़ाकर—
मैं रह गया वहीं का वहीं।
मेरा आकाश !
और
मेरी मुक्ति !
छीन लिया सब कुछ उस दृष्टि ने
जिस से निर्वसन ईव
आदम को—
सृष्टि की शब्दातीत
आदिम अकुलाहट में—
टेरती है।

दृश्य में घुलता चिकनापन

पुतलियों से निकलकर
एक चिकनापन
दृश्य में घुलता है
पलकों के साथ ही
मन का रहस्य
जब किसी ओर खुलता है
झरने से फूटते हुए जल-कण
धारा की तरह कभी
सीधे नहीं गिरते हैं,

दृष्टि हो सरल
किन्तु उस के अर्थ-सीकर भी
राज़ को छुपाये हुए
सारी दिशाओं में
तिरछे ही तिरते हैं।
खुलते रहस्य को
दिशाओं में तिरते अभिप्राय से जोड़ता हूँ,
कह नहीं सकता मैं
सत्य का कितना अंश पाता हूँ,
कितना अंश छोड़ता हूँ।

स्वीकार आँखों के सामने

चेहरे का बाक़ी हिस्सा
यों ढककर
कि सिर्फ़ आँखें ही दीखें
तुम मुझ को इस तरह मत निहारो।
बड़ी-बड़ी आँखें
जब भी मुझे
स्नेह से, कुतूहल से,
देखती हैं,
मुझ में अकस्मात्
सोते फूटने लगते हैं
मैं बोया-सींचा, असंख्य अँखुओंवाला
खेत बन जाता हूँ
या अनन्त आँखोंवाला आकाश
देह की मिट्टी में सोये हुए
प्रलय के बादल जाग उठते हैं।
पसलियों के भीतर टकरा-टकरा कर
समुन्दर टूटने लगते हैं।
शायद तुम्हें मालूम होगा—
आँखें मेरी कमज़ोरी हैं

और शक्ति भी।
आँखों ने ही मुझे रचा है, मिटाया भी,
आँखों में ही मैं ने अपनापन खोया है और पाया भी।
अब तो मैं काली पुतलियों के
आतशी शीशों से
दहकायी आग हूँ;
एकटक दृष्टि की डोर से
नाथा हुआ नाग हूँ।

अग्नि-दाह

सिर रख दिया फिर
तुम्हारे परितप्त स्निग्ध कन्धों पर।
बादल सा अनायास
छाया जाता है धुआँ—
मन के, तन के,
अविभाजित सम्बन्धों पर।

आग यह मैं ने तुम्हें सौंप दी
युगों से जलाती रही जो—
दोनों आँखों के काले अन्तरिक्ष को।

आँखों-आँखों में भर
पहले मुझे पिलाया
फिर स्वयं
तुम ने पी लिया ज़हर
तो भी नहीं टूटा कभी
मेरा विश्वास
इन तुम्हारे बहु-रूप बाहु-बन्धों पर।

निचला होंठ

वदली सी भरी-भरी
दो आँखें
मुझ पर झुक आयीं।

अपनी गहराई में
दूर तक सुनती सी
साँसें चुक आयीं।

निचला होंठ
दाँतों के नीचे यों दाब लिया
जैसे गिरते-गिरते
बूँदें रुक आयीं।

पाश-बद्ध

पाश
जिस में बँध सके आकाश
यदि होगा कहीं तो
भिन्न हो सकता नहीं
उन बाँहुओं से
बाँधकर मेरे अहं को,
जिन्होंने निस्सीम को
सीमित बनाया,
मूर्त रूप दिया अमूर्त-अपार को
और मृग-छौने सरीखा
पालतू कर लिया
सारे स्नेह के विस्तार को।

देह की आग

देह क्या ऐसी नगण्य चीज़ है,
चेतना ही देह का कारण नहीं,
देह भी चेतना का बोज है ।

आग, पावनता और पहचान

तुम्हें छूकर उपजी हुई आग को
कहीं और बुझाना
बहुत अजब लगता है
तन को दुख देता है
मन को कचोटता है।
बाहर से भीतर तक
ग्लानि उपजाता है।

स्नेह सन्दर्भ में
आग की पावनता
रक्षित रख पाना
एक ऐसा पुरुषार्थ है
जिसे किसी द्रष्टा ने
सूची-बद्ध किया नहीं
और—
जिसे पूरी तरह
मैं ने भी जिया नहीं

आग तो आग है
भीतर से बाहर तक
अपने में ही पावन, रत्नधातु
उस की पावनता की चिन्ता करनेवाले
बोलो! तुम कौन हो?

क्या तुम में उस से भी पावनतर
उस से भी मूल्यवान्
अपने व्यक्तित्व की ऐसी पहचान है
जो तुम को देती है—
हर अनुभव के क्षण में—दिशाबोध।

आशंसित मैं

एक गहरे सत्य को
शब्दों में बाँध कर
मैं ने तुम से वह आशंसा पायी
जो शायद ही किसी कवि को—
कभी नसीब हुई हो।

क्षण मात्र में
तुम्हारी पूरी काया
मेरे पाँवों पर थी।
बहुत देर तक
वे दोनों पाँव बँधे-बँधे
तुम्हारे हाथों में कसाव को
महसूस करते रहे।
तुम्हारी आँखों में
आत्मोपलब्धि की
एक अजीब सी दीप्ति थी
और माथे पर
अलकों की तरह बिखरी हुई
एक घनी शान्ति।
मुझे ईर्ष्या हुई
क्योंकि रचनाकार होकर भी
मैं स्वयं इतना परितोष नहीं पा सका
जितना तुम्हें मिला, तुम ने पा लिया।
मेरा हाथ स्नेह से—
तुम्हारे सर पर टिक गया,
न तुम ने उसे हटाया और न मैं ने।
एकात्मता में जिये गये वे क्षण
मेरे लिए उस कविता से भी
अधिक मूल्यवान् हैं,

क्योंकि उन की प्रेरणा से
मैं ने यह दूसरी कविता लिख ली है
जो सम्भव है
तुम्हें फिर उसी मुद्रा में ले आये
या कम से कम
उस की याद ही दिला दे।

हाथों में पाँव भर

हाथों में पाँव भर
अकस्मात्
मत दो इतना
सम्मान, स्नेह
डरता हूँ—
बहुत बहुत,
कहीं यह शीशा भी
सारे प्रतिबिम्बों को
आँककर
दरक न जाये
किसी मर्मान्तक ठेस से।
देखो वह दूर खड़ी प्रेत-छाया
हँस-हँसकर कहती है—
पाँव तो चलने के लिए हैं,
और हाथ ?
मलने के लिए हैं।

उलझे निशान

सीने पर टिका हुआ सर
सम्हाल कर उठाओ

ऐसा न हो,
पेन के क्लिप में
बाल फिर उलझ जाँय।

अपना मत्था
छाती में इस तरह न गड़ाओ
कि बेंदी की छाप क़मीज़ पर
बाद तक झलकती रहे।

दोनों बड़ी-बड़ी आँखें
ऊपर उठा
वक्ष के बीचोबीच ठोढ़ी टेक
मुझे इस तरह मत देखो;
उलझना
मेरी आँखें
तुम्हारे बालों से
ज़्यादा जानती हैं।

क़मीज़ पर पड़े कुंकुम-कण
भले ही छूट जाँय
पर मन में गड़े निशान
दुख दिये बिना
आसानी से नहीं जाते!

आगन्तुक

अन्तरिक्ष में भटकता
दिशाओं के जाल में अटकता
बार-बार चक्कर पर चक्कर काटता
हारा-थका शंकित पँखेरू एक
आख़िरकार बैठ ही तो गया
खिली पाटल की डाल पर।

मैं उस की गतिविधि में
अपने भटकते हुए
शंका भरे मन की
प्रतिच्छायाएँ देखता हूँ
सुखी हूँ न दुखी,
किसी पाहुन के हाल पर

बहुत झुककर स्वागत किया
डाल की कण्टकित काया ने
इसी से सोचता हूँ
फूल से अधिक शूल
शायद लिखे हैं
आगन्तुक के भाल पर।

होना-अनहोना

स्नेह-स्पर्श होते ही
आत्मा के पात्र का
लोहा—बन जाता है सोना,

'प्यार का परस ही
पारस है'
आस्था के स्वर में
फिर से कह दो ना!

पुण्य का देवालय
बन कर सज उठता है
पाप का पंकमय कोना,
ममतामयी आँखें
सब कुछ कर सकती हैं
होना-अनहोना।

युग्म

आँख में भरता हुआ शून्य

आँख के द्वार से
जितना झाँक पाया
झाँका।
भीतर के सत्य को
देह की ओट से
जितना आँक पाया
आँका।
अब भी यही लगता है
जाना हुआ
कुछ भी नहीं है
अनजाने के आगे;
कहीं तो मिले कुछ ऐसा,
आदमी सोते से जागे।

जो कुछ भी पाया अभी तक
उस से क्या बुझी प्यास ?
धधक उठी और आग
श्वास-प्रश्वास में
अप्रतिहत, अनायास !

अधर में टूटकर गिरे हुए
पंख का हलकापन
शून्य को भरता चला जाता है,
उड़ते हुए पाँखी से
कहने भर को उस का नाता है।
दृष्टि का दृष्टि से
कैसा सम्बन्ध हुआ,
अपनापन पाते ही
हो गया दिगन्ध मैं !

वक्ष-ध्रुव

लाओ
तुम्हारे वक्ष के अधखुले आकाश में
ठीक बीचोबीच
मैं अपने होंठों से
एक ध्रुवतारा उगा दूँ।
ऐसे बियाबान में
कौन जाने मन की किस भटकन को
इसे देख
हो जाये दिशा-बोध;
सम्भव हो जाये किस सत्य की
नयी शोध।

घाटी का गुलाब

तीखी लाल
लपटें देती पंखुरियों वाले
अंगार जैसे
उस गुलाब को तोड़ने
बादल उतरते आ रहे हैं
घाटी में।
धीरे धीरे
गहरी साँसों के वेग से
उभरते हुए वक्ष की
सन्धि में अंकित
उस रक्तिम निशान पर
खुले हुए बाल
बिखरते जा रहे हैं
हलके हलके।

होठों की दिशाएँ

अधरों ने अधरों पर
अकथनीय दंशों की कथा लिखी,
मुझे लगा,
धुआँधार दावानल में जलते
हिरने की व्यथा लिखी।

■

अलक-वल्गा

कुछ ऐसा हुआ
कि तुम्हारी आँख पर आयी हुई
एक अलक का सिरा
मेरे होठों में आ गया,
तुम ने अपना चेहरा
नज़दीक से दूर किया
फिर भी वह नहीं छूटी
और खिंच कर तनती गयी
मैं समझ गया
—तुम्हें वश में रखने के लिए
मुझे कैसी लगाम चाहिए !
शायद
अपने भीतर की अश्वमुखी आग को
समुद्र ऐसी ही वल्गा से सँभाले रहता है।

तरंगित जलाशय

कच्चे आम की फाँकों सी
उभरी बड़ी आँखें तुम्हारी
होठों को अजब सा—
खटमिट्ठा स्वाद दे गयीं।

वक्ष पर टिके हुए सिर पर
मैं ने फिराया स्नेह का हाथ
रेशे-रेशे बालों का अनुभव
हथेली में उग आया;

युग्म

कभी-कभी
उँगलियों में रेशम की घनी काली
लच्छियाँ
अब भी उलझ जाती हैं।

माथे पर एक अलक,
पानी में किसी हरी लम्बी सी पत्ती की
छाया सी गयी झलक।

पूरे जलाशय में
कितनी तरंगें
बस एक बूँद गिरने से उठ आयीं।

शब्द-निःशब्द

सुराही से
पानी
गिलास में
ढलते हुए
थोड़ा छलकता है
करता है हलका सा शब्द

छलके बिना
होठों से
होठों में
ममता
ढल जाती है
किन्तु, निःशब्द।

सुगन्धित राह

जिस धुनी हुई उज्ज्वलता में
तुम ने अपनी प्रियता की गन्ध

समोकर मुझे दी
वह — खिल कर
बेले का ताज़ा फूल बन गयी है,
तुम्हीं ने तो दिया था उसे भी,
वर्षा की बूँद बनने के लिए।

वासना—
गन्ध का ही तो पर्याय है।
मन की गन्ध
पूरे जीवन की गन्ध
जिसे जहाँ जो प्रिय लग जाय।

जैसे सुरभि पवन को बाँध लेती है
वैसे ही कस लेती है
वासना
प्राणों की।

व्यक्ति के लिए व्यक्ति की चाह,
एक सुगन्धित राह।

पंख-स्पर्श

तुम ने
होठ से
होठ का
इतने हलके से
स्पर्श किया,

लगा
जैसे किसी ने
पंख से—
पंख छू दिया।

इस से पहले
ऐसा
हम ने
कब जिया?

कोंपल-रेखा

उँगली से छूते ही
लाली—
कान के पास की
और भी बढ़ गयी,

बाहर छलक आने को
आतुर रक्त
त्वचा से टकरा कर
भीतर ही मुड़ गया।

आँख के नीचे
कपोल पर
उभरी हुई
तिरछी लाल रेखा एक
आम की कोंपल सी
उग आयी।

बहुत दिनों बाद
देह में समा कर
रन्ध्र-रन्ध्र से
फूट पड़ा ऋतुराज।

तुम से नहीं तो—
और किस से कहूँ
गंगा की धारा में
गंदे के फूल सा—
तिरता हुआ
अनुभव आज ?

आँखों का अद्वैत

तन्मयता के एक विन्दु पर
दो चेहरे
जब इतने क़रीब आ जाते हों
कि होठों में होठ छिप जायँ
और
भौहों के वीचो-बीच
दोनों आँखें मिल कर एक हो जायँ
यों कि चार आँखों की जगह
दो ही वच रहें,
इस तरह कि एक आँख दूसरी को
आमने-सामने आकर देखने लगे।
देखना भी यूँ हो
कि अक्स की तरह
एक को एक
अपने में उतार ले,
आत्मीयता के जुड़े हुए क्षण में
तव, अगर ऐसा प्रतीत हो हमें—
कि देह का होना न होना बेमानी है
क्यों करे कोई अविश्वास
अनुभव के इस दोहरे साक्ष्य पर।
क्या यह सत्य नहीं है
कि आकारों का घना सम्पर्क
स्वयं से उपजे हुए अन्तर्संश्लेष में
सारे बिलगाव को तिरोहित कर, तोड़ कर,
नयी रूप-रचना कर देता है ;
स्नेह-सम्पृक्ति के सच्चे उन्मेष में
पूरा अस्तित्व
एक लय-मय रेखांकन वन जाता है।

युग्म

सोता-जागता आसमान

होठों के घने सम्पर्क से
जो ताज़गी
तुम्हारे चेहरे पर छा जाती है,
रक्त का जो रंग त्वचा के नीचे से
ऊपर छलक उठता है—

वह हर बार
मेरी आँखों में
गहरी प्रतिच्छाया
छोड़ जाता है।

पलकें बन्द हों या खुली
इस से उस रक्तिमता के हठ पर
कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

सोते-जागते
मैं ज्यों ज्यों उसे देखता हूँ
उस की गहराई
कुछ और—
कुछ और, बढ़ जाती है।

कभी सुबह का आसमान हो जाता हूँ
कभी शाम का,
उस लाली से
इतना सरोकार
हो गया है मुझे।

होठों पर एक परिन्दा

तुम्हारे
तार-तार खुले बालों के
तने हुए अँधेरे में
स्पर्श का एक बेचैन परिन्दा
इधर-उधर टकरा कर
पंख फड़फड़ाते हुए
चुपचाप
होठों पर आकर बैठ गया।

मैं ने महसूस किया—
बाँहों से होठों का कसाव
कहीं अधिक है।
मैं ने देखा—
अधमुँदी पुतलियाँ
बालों से ज़्यादा स्याह और चमकदार हैं।

मैं ने पाया—
वह परिन्दा
बेचैन और थका होने पर भी
बेहद ज़िन्दा, बेहद मासूम है।
मुझे लगा
मेरे होठों को तुम्हारे होठों ने नहीं
उस के चिकने-मुलायम पंखों ने छू लिया है,
और
खुले बालों के अँधेरे में
मैं भी
उसी की तरह भटक गया हूँ।

रूप दृश्य

पीठ पीछे
चेहरे के इधर-उधर
ऊपर से नीचे
बहता हुआ
काले जल का झरना
निःशब्द,
अजस्र,

अपने साथ वहा ले जाता है
आँखें
जो उसी में डूबकर देखती हैं उसे।

प्रवाह को पाकर
फूल की तरह
खिल जाती हैं मछलियाँ।

देह को लपेटे हुए
एक—कारी बदरिया,
पानी दे, पानी दे, पानी दे।

सहसा जगर-मगर दिन
ढलकर रात बनते-बनते
'सियहपोश शमा' बना
फिर 'दुर्दिन' हो गया।

सूरज की तरह
तपता हुआ मेरा मन
मुक्तकेश अँधेरे में
खो गया।

मछलियाँ और जलाशय

जुड़े हुए होंठों के बीच
हमारी जीभें
ज़िन्दा मछलियों की तरह
आपस में टकराती रहीं।

यों—
जैसे हम दोनों ने
एक दूसरे के भीतर का
पूरा जलाशय—(आशय-जल)
पी लिया हो।

कहने को उस दिन
अतृप्ति कुछ घटी,
पर सचमुच
प्यास को दूना, चौगुना,
सौगुना बनाकर हटी।

बारीक रेखाओं पर बिछल उठनेवाली
जैसी प्रदीप्त चिकनाहट
जैसी गीली विह्वलता
तुम्हारे होंठों की उभरी हुई कोर पर
उस क्षण मुझे दिखी
और जैसी निढाल आँखें
तुम्हारी अचानक हो गयीं
वैसी मैं ने कभी देखीं नहीं।

मेरी बाँहें, मेरे होठ, मेरा सब कुछ
तुम्हारी उस निगूढ़ ममता का कृतज्ञ है
जो तुम्हें इतना सब होने पर भी
मुझ तक खींच लायी,
कहाँ तक, मैं स्वयं नहीं जानता।

तरीक़ा विदाई का

यों न जाने कितनी बार
तुम्हारे होठों ने
मेरे होठों को
सघन से सघन सम्पर्क के साथ विदा दी है
परन्तु उस दिन
जिस तरह तुम ने अपने मुँह को
तेज़ी के साथ ऊपर उठाते हुए
आगे बढ़कर मेरे होठ छू लिये
वह मेरे लिए अविस्मरणीय है।
उस एक स्पर्श के आगे
पिछले सारे संस्पर्श, सारे अनुभव
फीके पड़ गये हैं।
मैं नहीं समझता था कि
तरीक़ा चीज़ को इस क़दर बदल देता है।
मैं नहीं सोचता था कि
एक हलके स्पर्श से उठी हुई हिलकोरें
रक्त की बूँद-बूँद को पारावार बना देंगी
और मैं मुख-मदिरा-सिंचित अशोक सा
अकस्मात् पल्लवित-पुष्पित हो उठूँगा।
दुख की तरह
कभी-कभी अतिशय सुख भी
असह्य हो उठता है।

मुझ पर अगर कुछ भी रहम आये
तो मुझे ऐसे कभी मत छूना;
मेरे होठों को अब कभी ऐसे मत विदा करना।

स्पर्श-गूँज

सतह तक आकर
कुछ छुआ ;
फिर ललछौंही किरनों की
दो पतली काँपती
मछलियाँ
पंख हिलाती
तृप्ति के गहरे जल में
उतर गयीं।

स्पर्श जो हुआ
वह शिराओं में
पहरों तक
हाथ से छूट गिरी
फूल की थाली सा काँप
झनझनाता रहा।

होठों को होठों का
अनिर्णीत स्वाद
याद आता रहा।

ऋतु-चक्र

कानों को हाथ लगाने से क्या
मैं ने तो वही बात कही,
जो इतने दिनों से लगातार
मेरे ही मन में नहीं
तुम्हारे मन में भी रही।

वादलों के छटते ही
दिशाएँ एकदम पारदर्शी हो गयी हैं
हवा की तरह बहते सत्य के—
शीतल स्पर्श से
कितने हलके हो गये हैं
हमारे मन।

हो जाता है अकस्मात्
आदमी के भीतर ही भीतर
कैसा ऋतु-परिवर्तन।

अधूरी चीज़

अंतरंग अनुभव के क्षणों में
अब तक तुम से मैं ने कितनी बार कहा है
—'अधूरी चीज़ अच्छी नहीं लगती'
और हर बार मुझे लगा कि मेरी बात
चट्टानों से टकराकर लौटी हुई—
ध्वनि की तरह

घाटी में टूट-टूटकर बिखर गयी है,
उस की कोई अनुगूँज, कोई प्रतिध्वनि
पहाड़ों की जड़ता के सामने कभी अपना अर्थ नहीं खोल सकी है
सच्चे स्वरों में, हमारे भीतर की आवाज़
अभी तक शायद कभी नहीं बोल सकी है।
निरर्थकता निरर्थकता निरर्थकता
सुनकर हर बार मैं रहा हूँ थकता
थकता
थकता

पर उस दिन तुम्हारे होठों से भी
जब वही वाक्य अकस्मात्
दबे हुए सोते की तरह फूट पड़ा
तो मुझे लगा—सब पहाड़ बहरे नहीं होते
समय आने पर
चट्टानों का मन भी पसीजता है।
मैं ने यह भी पाया.
कि अपने शब्दों को अमोघ बनाने के लिए
एक लम्बे मौन का अन्तराल चाहिए।
देखता हूँ कितना अन्तर था
मेरे कहने और तुम्हारे कहने में।
आदमी को कितना सहना पड़ता है
खाली ध्वनियों में अर्थ भरने के लिए,
कितना चुप रहना पड़ता है
शब्दों को सार्थक करने के लिए ;
वाणी का तप : वाणी की सिद्धि।
मेरी खींची हुई रेखा के पास
एक इतनी लम्बी लकीर खींच दी गयी है
कि मैं अपनी रेखा को बढ़ाकर—
उसे छोटा करने की बात सोच भी नहीं सकता हूँ।

हारकर मैं ने चुपके से दोनों रेखाओं को मिला दिया।
तुम्हें बाँहों में भरकर पी लिया, अपने को पिला दिया।

फूल जो मैं ने दिये

फूल जो मैं ने दिये
अँजुरी में भर
तुम ने माथे से लगा लिये ।

होठ जो मैं ने पिये,
दूनी पिपासा से
मेरो ओर
तुम्हीं ने बढ़ा दिये ।

सत्य जो
आँखों में
अनुभव की नाल पर
खिलता है
मिटता कहीं है क्या
किसी के किये ?

आँखों के क्षितिज

प्रतिबिम्बित जलाशय में
आकाश सारा का सारा
नखत के लिए नखत
तारे के लिए तारा
शून्य के लिए किन्तु शून्य नहीं
पूरित जलराशि ;
रिक्तता से रिक्त
प्रतिबिम्बमय
ऐसा ही होता सम्बन्ध
काश ! मेरा-तुम्हारा ।

■

प्यार : यात्रा और आँख

जिस का पहला ही अक्षर आधा हो
वह हमें पूर्णता तक कैसे ले जायेगा ?

प्यार
एक दिशाहीन यात्रा है
एक यातना से दूसरी यातना तक,
न यात्रा का अन्त है
और न यातना का।

कहते हैं यह हमेशा
अन्धा ही जनमता है
पर
बिना आँख का, मुझे—
कुछ भी नहीं चाहिए।

पहले आँख दो
फिर प्यार
फिर आँखों का प्यार

फिर,
कुछ दूर हटकर, अपने को—
देख लेने दो
एक बार।

स्थिर समय

माथा
झुका का झुका ही रहा।
आँसुओं का सिलसिला

आँख के साये में
रुका का रुका ही रहा।

शब्द
होठों तक आकर
जाने किस शंका-संकोच से
पीछे को लौट गये।

काया
दुर्बल, उदास,
अपनी ही बाँहों में
सिमटी रही।

ऐसा लगा
जैसे एक बिन्दु पर
आकर
ठहर गया हो
समय
सहसा तुम्हारे पास।

स्पर्श-लेख

थके माथे पर
नयी उगती किरन
स्पर्श-सुख ;
एक उँगली
गिरे जल से खेलकर
कुछ लिख गयी।
हर लिखावट कहाँ किस ने पढ़ी,
और अपनी क़लम से—
अनुभूत सब कुछ
कहाँ किस ने लिखा।

क्या हुआ जो
थके माथे पर
किरन का लेख
मैं ने अनपढ़ा ही छोड़कर
स्पर्श-सुख ही लिया केवल,
अर्थ का सम्भार
सचमुच
कम नहीं पाया।

रूप-गीत

एक आश्लेष,
सब बीत गया क्लेश।
फिर वही मुक्त केश,
फिर वही परिवेश।

गालों पर बिखर रहे—
बालों से—छनी हुई धूप,
रूप में ढलीं आँखें,
आँखों में उतर गया रूप।

होठों पर होठों की छायाएँ,
आत्मा में जैसे, परिणत होती कायाएँ।

पशुता से मुक्त
कसे बाँहों के पाश :
वक्षों के बीच
लगा मिटने आकाश।

किस से क्या कहे कौन
किस का सन्देश ;
जीत गयी आस्था जब,
बीत गया क्लेश।

दो शब्द-चित्र

वेणी खुली
साड़ी धुली
रोशनी
काली-सफ़ेद
मिली-जुली ।

०

पाँव
जितना ही
खुलता-उघरता है,
कहता है आँख से—
उतनी ही मुझ में गुराई है
उतनी ही मुझ में सुघरता है ।

माथे पर सुबह

उस दिन
शाम को
सुबह का चाँद
माथे पर उग आया,
भाती रही
चाँदनी में लिपटी देह ।

इतने अन्धकार को पिये,
और आखिर
कोई कैसे जिये ?

अनायास,
हड्डियों में पैठ गयी
तीखी प्यास।

कहीं किसी लोहे की कील पर
पड़ी चोट,
सिहरन एक नोंकदार
निकल गयी
काठ के आर-पार ;
ऊपर चमकता रहा
उस.का सिरा—गोलाकार।
बिल्कुल
डूबते चाँद सा,
कितना सुथरा सिंगार।

जलाशय

तुम ने डूबी हुई आँख
यों खोली
जैसे पानी में
किसी बत्तख ने
पंख फड़फड़ा दिये हों।

जल-तल पर
दूर तक
लहरें ही लहरें
उठती दिखाई दीं।

पलकों का भारीपन
मन की गहराई से—
जुड़ा था।
पतली गर्दन का हिस्सा
मेरी ओर—
कुछ पीछे को मुड़ा था।

हँसी के पार्श्व

भीतर तिलमिलाहट
ऊपर खिलखिलाहट
सुनता हूँ—उसी भाव से
पहले एक आहट
फिर दूसरी आहट।

बाँकी हँसी

एक हँसी
होठों पर आकर
लगातार बहुत देर तक
छलछलाती रही।

नदी सी उमड़कर
दाँतों के दोनों तट
खनकते स्वरों के
फेन में डुवाती रही।

यों कि बेमतलब
पर बाहर से भीतर तक
बाँकी—सधी—अर्थभरी।

खुलकर भी
सात पर्त में लिपटी
तन्दुल की पोटली
अब बिखरी, तब बिखरी।

कहने को
कुछ भी नहीं कहा
पर जैसे सब कुछ कह दिया गया।
सतह पर हँसते हुए
तल तक जी लिया गया।

रूप-दृष्टि

पलकें उठीं—
खुल गया आसमान,
गिरीं—शाम हो गयी।

आँख की पुतली पर कसी,
शीशे में कौंधती
दुपहर की धूप सी
चमकदार हँसी।

अंगों से उठ-उठकर
कब अदृश्य भाप-सी
सोंधी गन्ध देह की
सपनों के पंखों में बसी।

'शरकाण्डमिव गौरम्'
के सूक्ष्म रंग-बोध से अभिभूत
मेरी दृष्टि
त्वचा की घनी रोम-राजि में
कहाँ जा फँसी!

बहुवचन

माना—
एक वर्जित सन्दर्भ में
मेरे मुँह से सहसा
बहुवचन निकल गया।

पर इतने से ही
तुनककर
भौंहें चढ़ा लेना,
दूर जाकर लेट रहना,
लेटे-लेटे खिलखिलाकर
हँस पड़ना—
भला यह भी कोई बात हुई !

नहीं तो

'यह ऐसे भी होता है ?'
'हाँ, तीसरी प्रकृतिवालों के साथ।'
'बस, उन्हीं के साथ ?'
'नहीं तो !'
और सहसा एक चीखनुमा
तीखी कुहक के साथ फूटता हुआ
ऽऽक़ऽहऽक़ऽहाऽऽ
फिर एक खिलखिलाहट
फिर एक भीतर ही भीतर खनकने वाली हँसी
और फिर उसी 'बहुवचन' का स्मरण
हँसी के गहरे समुद्र में
चुपचाप सह - सन्तरण
शब्दों में निहित अशब्द को
पकड़ने के लिए
उठते हाथ, बढ़ते चरण।

हँसी का झोंका

दोनों हथेलियाँ
मुँह पर रख
तेज़ किलक के साथ
अँजुरी भर
खिलखिलाहट बिखेर देना
और पंखुरी-पंखुरी हो जाना
हँसी के झोंके से
टूटकर।

महज़ एक बात पर
जो तुम्हें इतनी भा गयी
कि आँखों में नयी चमक आ गयी
चारों ओर एक अजब रोशनी सी छा गयी।

मेरी नज़र से देखो
तुम्हारी यह हँसी
उस बात से भी अच्छी है
जो मैं ने कही थी,
और जो कहीं
तुम्हारे मन में भी रही थी।

प्रतिमा-बोध

अब मैं स्वयं उस प्रतिमा को
अपने में सहेजे
कन्दर्पेश्वर के मन्दिर का
एक पार्श्व हो गया हूँ।

क्षति-पूर्ति

यदि अब भी
तुम में कुछ ऐसा हो
जो अक्षत हो, अछूता हो,
—उच्छिष्ट न हो,
मुझे वही दो।
तुम्हारा जो भी अंश अपना हो,
नितान्त निजी हो, सुरक्षित हो,
सहज संवेद्य हो, क्वाँरा हो,
मुझे वही चाहिए।
यदि नहीं है कुछ भी शेष तो—
मन पर जमे हुए कलमष की पर्तें
एक-एक कर उतार दो,
सारे मलिन वसन दूर फेंक
भीतर के उजले रूप को उघार दो।

निर्वसन आत्मा सदा सक्षम है,
—पावन है,
—मुझ को वरेण्य है।

भोगे हुए को भोगना
नरक की यातना है;
दुश्चरणी, वैतरणी
दोनों ही एक हैं।
यही मर्यादा है मन्दिर की
देवता पर चढ़े हुए पुष्पों की—
फिर से चढ़ाया नहीं जाता।
सत्य की पाषाणी प्रतिमा निरावृत ही पूज्य है,
उसे, छल के सुवर्ण से मढ़ाया नहीं जाता।

अभिनीत सत्य

लो यह एक चोट और
मेरी ओर से—

एक से टूटा स्वप्न,
एक से बुझी आग,
लो यह ठेस और
टूटने दो मनोराग।

वंचना से ममता की
मैं ने तुम्हें छला
किन्तु स्नेह के अभिनय में
कुछ था मेरा भी ऐसा—
जो पिघला, गला।

अभिनय ! नहीं, नहीं, नहीं !!!
मैं ने या तुम ने अभी यह क्या कहा ?
सब सुने ! सुन लो तुम भी !!
अभिनय में मैं ने जो सहा।

खेल ही खेल में
आता है ऐसा क्षण
सारा परायापन
अपना हो जाता है,
नाटक ही रहता है शेष,
सत्य सपना हो जाता है।

आरोपित भाव रुधिर में घुलकर
हृदय में समाते हैं,
रटे हुए शब्द ही जीभ बन जाते हैं।

ठीक है तुम्हारा आरोप-क्षोभ
हाँ, अभिनय ही तो था
मैं ने अब तक जो भी किया-जिया।

देखो ! यह बायीं ओर
हृदय नहीं, सूरज का दाग़ है,
फिर-फिर दहकता है धुआँधार
ज्योति के अक्षय तूणीर में
इतना घना अन्धकार !
रह-रहकर उठता है टीस
पसलियों के पिंजरे में फँसा
काल-पक्षी सा यही दाग़,
दर्द ही इस का स्वर, इस का राग।
मुझ में भी ताँबे-सी
जल-जलकर बुझी आग
मेरे भीतर भी कहीं
टूटा है मनोराग।
जो कुछ कह मिले कहो
नारी हूँ—दुनिया के सामने
अभिनय ही तो मेरा सम्बल है,
मेरा अस्तित्व ही वंचना है, छल है !
सारा तुम्हारा किया
मैं ने सर-माथे लिया
जितना जो तुम ने कहा
मैं ने चुपचाप सुना
अब मुझ को भी कुछ कह लेने दो ;
नर होकर भी तुम मेरे भीतर
झाँकने से डरते हो
सच कहूँ—अपने अहंभाव में
मेरा सही-सही मूल्य,
आँकने से डरते हो।

फिर भी तो बाँधती हूँ मैं ही तुम्हें
जब भी बिखरते हो।
बोलो ! जो मैं ने कहा अभी
क्या वह भी अभिनय था ?

तुम्हारा दर्पण मैं

तुम्हारी दृढ़ता
कपाल-वनिताओं-सी भयानक लगती है
और तुम्हारी भंगिमा
शाल-भंजिकाओं-सी मोहक,

तुम्हारी बड़ी-बड़ी
पानीदार आँखों में
चित्रांकित रागमालाएँ तैरती हैं ;

तुम्हारे घने व्यक्तित्व की छाया में
कपोतों की तरह कई युग
अकस्मात् एक साथ उतर आते हैं।
अपनी इतिहास-दृष्टि
और सौन्दर्य-बोध
दोनों से
मैं तुम्हारे भीतरी और बाहरी रूप की
हर झलक पहचानने लगा हूँ।
तुम ने शीशे में, केवल—
अपना चेहरा ही देखा होगा
या शायद पूरी काया भी
पर तुम में मैं ने जो देखा
वह तुम्हें शीशे में नहीं
मुझी में देख मिलेगा ;

उस का साक्षी वह दर्पण नहीं
यह दर्पण है।

सुरसुन्दरी

मेरा उन्मत्त पौरुष
तुम्हारी मुट्ठी में
और मेरे होठ
तुम्हारे मुड़े हुए चेहरे की
बाह्य-रेखा से उभरते हुए
होठों पर;

पूरी काया
तिर्यक् भंगिमा में उकेरी गयी
खजुराहो की अभिमन्त्रित प्रतिमा-सी
पीछे को मुड़ी हुई।

तुम्हारा दूसरा हाथ मेरे हाथ में
और पीठ—
मुड़कर भी वक्ष से जुड़ी हुई।

माना कि इस मुद्रा में
हम दोनों
कुछ ही क्षण रहे होंगे
पर उतने में ही—पूरी मूर्ति
मेरे भीतर सिरज गयी;

अब मैं स्वयं इस प्रतिमा को
अपने में सहेजे
कन्दर्पेश्वर के मन्दिर का
एक पार्श्व हो गया हूँ।

परिपूर्ण सृष्टि

मेरे हाथ में
स्पर्श की कलियाँ
फूल बनती जा रही हैं,
और तुम्हारे हांथ में
खिले फूल भी
कली होते जा रहे हैं
बिना मुरझाये,
फिर-फिर खिलते रहने को ।

मुझ में, तुम में
सृजन के अनुभव की प्रक्रिया का
यह अन्तर क्यों है ?

देखता हूँ,
स्रष्टा बनने का श्रेय मुझे भले ही हो,
पर तुम सचमुच
अपने में परिपूर्ण सृष्टि हो ।

सृष्टि-केन्द्र

तुम
यानी कि मुझ से अलग
एक आधार-शिला,
एक संचार-केन्द्र,
एक जलाशय,

मैं झाँककर उस में
जो कुछ भी देखता हूँ
वह मेरा ही रूप होता है।

तुम
यानी मुझ से अलग
तमाम व्यक्तियों के अस्तित्व की प्रतीक
एक इकाई
द्वितीय से लेकर अनन्त तक के विस्तार को
अपने में समेटे हुए
प्रवाह की एक आकुल परम्परा
एक नदी
जिस की धार में पैर रखते ही
मैं अपनी सहज गति पा जाता हूँ।

तुम
यानी मुझ से बाहर की सारी सत्ता
सारी इयत्ता
एकत्व की परिधि में ले आनेवाली
शब्दातीत शक्ति
एक सूत्र
जो सब में पिरोया है
और जिस का एक सिरा मैं हूँ
दूसरा तुम्हारे भीतर से होता हुआ
मुझ में आकर फिर
अपने से जुड़ गया है।

तुम
यानी एक गतिशील ऋतु-चक्र
जिस में मैं
अपने को भ्रमित
श्रमित पाता हूँ
किन्तु फिर भी
जिस की कालजयी गरिमा के आगे
अपने अहंकार को
दृप्त-नमित पाता हूँ।

युग्म

मेरी जो इच्छा
तुम्हें ग्राह्य हो जाती है
वह मेरे लिए अमृत बन जाती है;
और जिसे तुम तिरस्कृत कर देती हो
उसे जलाकर क्षार कर देने के
उपक्रम में मैं स्वयं सुलग उठता हूँ
और निरन्तर जलता रहता हूँ
तब तक जब तक तुम्हीं मुझ में डूबकर
सभी अर्थों में
मुझ से एकात्म नहीं हो जाती हो।

तुम कुछ भी नहीं हो
फिर भी सब कुछ हो
क्योंकि तुम
मेरी संवेदना का वह सूक्ष्मतम बिन्दु हो
जहाँ से सृष्टि आरम्भ होती है।

तीसरी आँख

मैं शिल्पी हूँ
तुम्हारे 'प्रमदा' रूप के भीतर निहित
'प्रज्ञा' का आकार उभार देना चाहता हूँ।
वासना को जगाकर
तुम मेरी अन्तर्दृष्टि पर
परदा डालने की कोशिश मत करो।

मेरी आँखें
गहन अँधेरे में भी खुली रहती हैं।

सूर्य के अभाव में
कुछ समय के लिए
भले ही उन्हें ऊपरी रूप न दिखाई दे
पर आन्तरिक स्वरूप की उन की पहचान
एकदम अचूक है।

प्रकाश जैसे आकाश के पिण्डों में है
वैसे भी हमारे भीतर भी प्रदीप्त है,
आत्मगत सत्य को परखने की इस प्रक्रिया में
कोई भी परदा, कोई भी अँधेरा—
बाधक नहीं होता, नहीं हो सकता।

नशा और नींद बनने की जगह
मैं चाहता हूँ कि तुम
उस के साक्षात्कार में
मेरी तीसरी आँख बनो।

तुम्हारे द्वारा, तुम्हारे द्वार

प्रणय और विना झुके,
जैसे चलना रुके-रुके ।

सामना प्रवाह से

जब जब मैं
तुम्हारे यहाँ न आने का संकल्प करता हूँ
मुझे लगता है, मैं एक—
हहराती हुई नदी का सामना कर रहा हूँ।
सैलाब मुझे मरे हुए जानवर की तरह
अपने साथ बहा ले जाना चाहता है
पर मैं अभी मिट्टी नहीं हुआ हूँ,
लहरों को थाम-थामकर
उन से बचने की कोशिश करता हूँ।

बाँधा होगा किसी हज़ार बाँहोंवाले शक्तिपुरुष ने
नर्मदा के पूरे प्रवाह को
पर मेरी तो दोनों भुजाएँ उखड़कर
धार में तिनकों-सी बही जा रही हैं।

पानी मेरी देह को फोड़कर
निकलता जा रहा है,
मेरे अंग लता-पता हो रहे हैं,
मेरी आँखें नोचने के लिए
कितनी मछलियाँ इकट्ठा हो गयी हैं,
कछुए पैरों के पास आकर दाँत गड़ा जाते हैं,

फिर भी मैं अभी खड़ा हूँ
नदी के बीचो-बीच
अपने भीतर से गुज़रता
पूरा प्रवाह देखता हुआ।

वधिक स्थितियाँ

स्थितियाँ भी वधिक होती हैं
पंख फड़फड़ाकर
उड़ती हुई इच्छाएँ
घायल-छटपटाती धरती पर
पड़ी रह जाती हैं।

ताज़े रक्त से सने हुए छर्रे
या छूटे हुए तीर
देह को चीरकर
पार निकल जाते हैं।

निर्णय कभी-कभी—
एक साथ अनगिन सन्दर्भों में
उलझकर
ख़ाली हाथ
वापस चला आता है।

स्वयंप्रभा, उज्ज्वल
मर्यादा की अग्निरेखा
लाँघते-लाँघते
दूरदर्शी पाँव ठिठक जाता है।

द्वार तक आकर—
किया गया स्वागत
या, दी गयी विदा
क्या कहूँ इसे !
तुम्हें या अपने को
दोष दूँ किसे ?

पहचानी आँख की
काली पुतलियाँ
जब पीड़ा से स्याह अधिक होती हैं,
यही बार-बार लगता है
स्थितियाँ भी वधिक होती हैं।

क्षण-कण

सब कहीं खोजा, पर—
तुम्हारे ही द्वार पर पाया
एकान्त का क्षण ;
तुम से मिलकर भी
नहीं टूटा वह कण।
टूटें
भले ही रश्मि-घात से
निविड़ परमाणु आर्तनाद कर,
किन्तु मुझे लगता है
तुम से सम्पृक्त
वह क्षण-कण अटूट था।

क्या-क्या कहना था
कुछ भी नहीं कह पाया
छायी रही धुन्ध
औपचारिक सम्बोधनों की ;
पाया ही नहीं लक्ष्य
विफल गया शब्द-वेध
बार-बार।

आना कभी मेरे द्वार
शायद वहाँ
पाकर शत सूर्य-ताप
अपनेआप
टूट जाय क्षण-कण
एकान्त का।

सूरज और सम्पाती

आसक्ति के मुँह पर
लू के तमाचे
पसीना और प्यास
दहकी हुई साँस ।

पिघलती सड़क पर
दौड़ती हुई
धूल की गिलहरियाँ
धरती पर, उँगली से
एक बड़ा घेरा बना
खड़ी-खड़ी सीधी लकीरों से घेर दिया
तपने लगा सूरज सा ।

बाहर की जलती लकीरें सब
घेरे में आयीं सिमट
धरती को छूते हुए
चलने लगा नभ-चारी रथ-चक्र
जिस के नीचे पिसकर
भोगी है मैं ने अकेले ही,
एक साथ
सौ-सौ सम्पातियों की यातना ;
अपने भीतर-बाहर
सभी कहीं
झुलसे, जले, झरे पंख
चिपके नज़र आते हैं ।

पूछती है मुझ से हर एक दिशा
सूरज को छूने का, रचने का
साहस करोगे फिर ?

सब के अपवाद-शब्द
सुनता हूँ मैं नत-शिर ।

पराजित हम

स्नेह के प्रति
इतना अस्नेह व्यवहार !
अब इस से बड़ी
और क्या होगी
आत्मीयता की हार !!

होकर पराजित मैं
आत्मसंघर्ष से,
आता हूँ जब भी तुम्हारे द्वार
यही अनुभव करता हूँ बार-बार
अपने को मोड़कर
तुम्हारी दिशा में
मैं ने किया हो जैसे—
कहीं कोई बड़ा अपकार ।

सोचता था—
शायद तुम कर सको
मेरी सारी दुर्बलताओं के साथ
मुझे स्वीकार ;
लेकिन अन्ततः
तुम्हीं नहीं कर सके
अन्तरंग सत्य के
खण्डरहित रूप से
पूरा साक्षात्कार ।

उधर कहाँ पाये तम
अपनी सुरक्षा की चिन्ता से

आखिरकार,
मैं ही क्यों,
तुम भी तो
गये हार।

यातना का नागपाश

समय कहे तो कहे,
उस क्षण के बारे में
स्वयं मैं
कुछ भी न कहूँगा।

जब मैं ने तुम्हारे
अनुच्चरित शब्दों को
अपनी दोनों मुट्ठियों में
कसकर दबोच लिया,
जब मैं ने तुम्हारे
अटूट मौन से डरकर
अपने को तुम से
हठात् नोंच लिया,
क्या तुम ने सोचा—
मुझे कैसा लगा?

इतनी अजीब घबराहट
इस से पहले कभी नहीं हुई,
अपने को इतना निराधार भी
मैं ने कभी नहीं पाया।

तुम ने मुझ से दुराव किया,
सब से अलग
सिर्फ़ अपने लिए—
अपना बचाव किया।

मुझे लगा—
मैं अकारण, सहसा
निर्वासित कर दिया गया

किसी ऐसे देश से
जिसे मैं ने जन्मभूमि से भी ज़्यादा
अपना समझने की भूल की ।

अब
पीछे मुड़कर,
वहाँ या कहीं
वापस लौट जाना
असम्भव है ।
मैं आदमी हूँ, देवता नहीं
कि एक जैसा मुँह बनाये
जहाँ का तहाँ बैठा रहूँ,
कुछ न कहूँ ।
जो जी में आता है—
आग-पानी, आँधी-अन्धड़ सब कुछ
अक्षरों में रच-रच
लिख देता हूँ
और यों ही—
अपने से बाहर निकलने का
यात्रा-सुख लेते हुए
भीतर से हलका हो लेता हूँ ।

अनुभव में आया हुआ गहन सत्य
किन्तु सदा,
कुछ तो अकथ ही रहेगा,
कोई भी कवि
सब का सब, कैसे कहेगा ?
कहे से अनकहे को समझना ही,
सच्चा समझना है ।
सन्दर्भों से ऊपर उठकर
वे अक्षर
मेरे लिए कविता हो चुके थे
पर तुम ने उन्हें उसी तरह नहीं लिया,
तभी, उन्होंने तुम्हें बेहद दुख दिया ।
ऐसा काठ होते मैं ने तुम्हें कभी नहीं देखा,
ऐसा मसान मैं भी कभी नहीं हुआ ।

क्षण भर पहले
हम बादलों की तरह कसे थे;
और अब,
एक ही क्षण बाद
आसमान की तरह खुल गये हैं।

आगे-पीछे, इधर-उधर
सब कहीं शून्य ही शून्य है
निराधार—पन्थहीन।

न चाहते हुए भी
बुझे धूमकेतु सा
मैं चला आया हूँ
तुम से बहुत दूर—बहुत ही दूर,
क्योंकि मेरे लिए सम्भव नहीं था
तुम्हारी निस्संगता को चीरकर
तुम से बोल पाना,
या अपने को—
उस यातना के नागपाश से खोल पाना।

समाप्त दृश्य

मेरी मुखरता की टाँकी से
नहीं टूट सका,
तुम्हारा चट्टानी मौन।
शब्दों की हर पैनी चोट
बेकार साबित हुई।
जहाँ सच्चाई
निरर्थक हो जाती हो
उस दिशा के
अँधेरे की कल्पना
मुँदी हुई आँख भी
नहीं कर सकती है।

जिस का हर अग्निबाण
छूटते ही बुझ जाय
उस निरीह धनुर्धर के
ढीले हाथों-सा
ठण्डा पड़ चुका है
मेरा मन।
अब मुझे तुम से—
कुछ भी नहीं कहना है।

तुम्हारी अशब्दता,
मेरी घटती हुई उम्र।
तुम्हारी निरपेक्षता
मेरी घुटती हुई साँस।
सुनो,
मेरी ओर देखो !
जाऊँ ?
जाता हूँ।
अब तुम कभी
मेरी छाया भी
नहीं छू सकोगी।

देखते ही देखते
एक नाटक सा,
सब कुछ समाप्त हो गया
जिस का मैं दर्शक था,
और अभिनेता भी।

ग्रन्थि-बन्धन

निश्चय ही
कहीं पर
बँधा हूँ तुम से मैं
हीनता-ग्रन्थि से—
नहीं तो क्या
तुम्हें जीत पाने का
बार-बार
करता निष्फल प्रयास।

नहीं तो क्या
इतना सब
होने के बाद भी
बोहित के काग सा
लज्जाहीन
लौट-लौट आता
तुम्हारे पास
निष्प्रभ, आहत, उदास।

उपकृत रहूँगा सदा
देकर एक
सहज
सुकुमारतम
स्नेह-स्पर्श
अब भी
यदि हो सके तो
कर दो मुझे
ग्रन्थि-मुक्त।

शक्तिहीन स्नेह

तुम मेरे पास मत आओ
मैं एक हारा हुआ सिपाही हूँ।
तुम्हारी सहानुभूति का प्रत्येक शब्द
मुझे व्यंग्य लगता है—
नुकीला तीर,
तीखे ज़हर में बुझा हुआ।
आज नहीं कल
इस युद्ध को जीतने के बाद
मैं ही तुम्हारे पास आऊँगा
तुम्हें और तुम्हारी सहानुभूति
दोनों को अंगीकार करने
देखता हूँ—
शक्ति के बिना
स्नेह की भी
स्वीकृति निरर्थक है।

साक्षी हैं सूनी सड़कें

हरसिंगार की
खिलखिलाती
टहनी
दिन के ताप से
सूखकर भी नहीं सूखी;
जाली के सिरे में
उलझी रही
स्नेह की भूखी।

कितनी बार
पंखड़ियाँ गुलाव की
मैं ने ही लाकर चौराहे से
रोप दीं
रात की मुँदी हुई पलकों के नीचे,
वन्द खिड़की के ओंठ पर।

इस पागलपन की
साक्षी हैं—
अँधेरे की काली खुली
बाँहें : सूनी सड़कें,
पेड़ों की शान्त स्याह
पंक्तियाँ : ऊँची उठी प्राचीरें,
भूँकते कुत्ते, हुहाते सियार
एक से एक बड़े पहरेदार,
उद्घोषित करते रहे बार-बार
देख लो, यही है, यही प्यार;
धिक्कार !

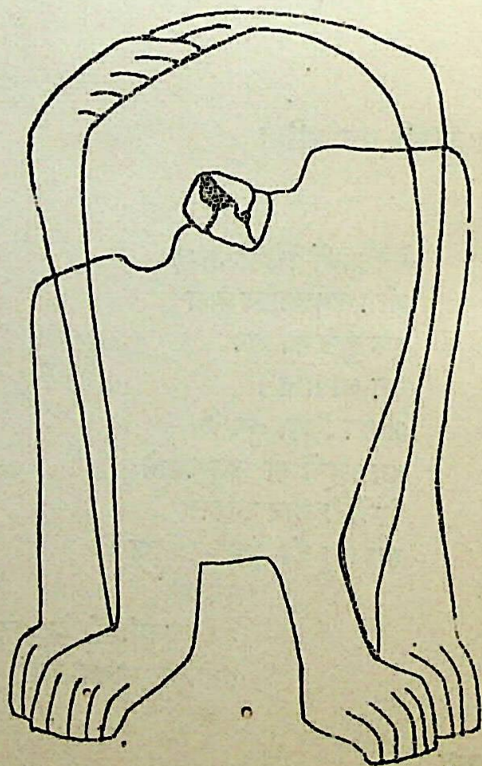
आदमी का शीश

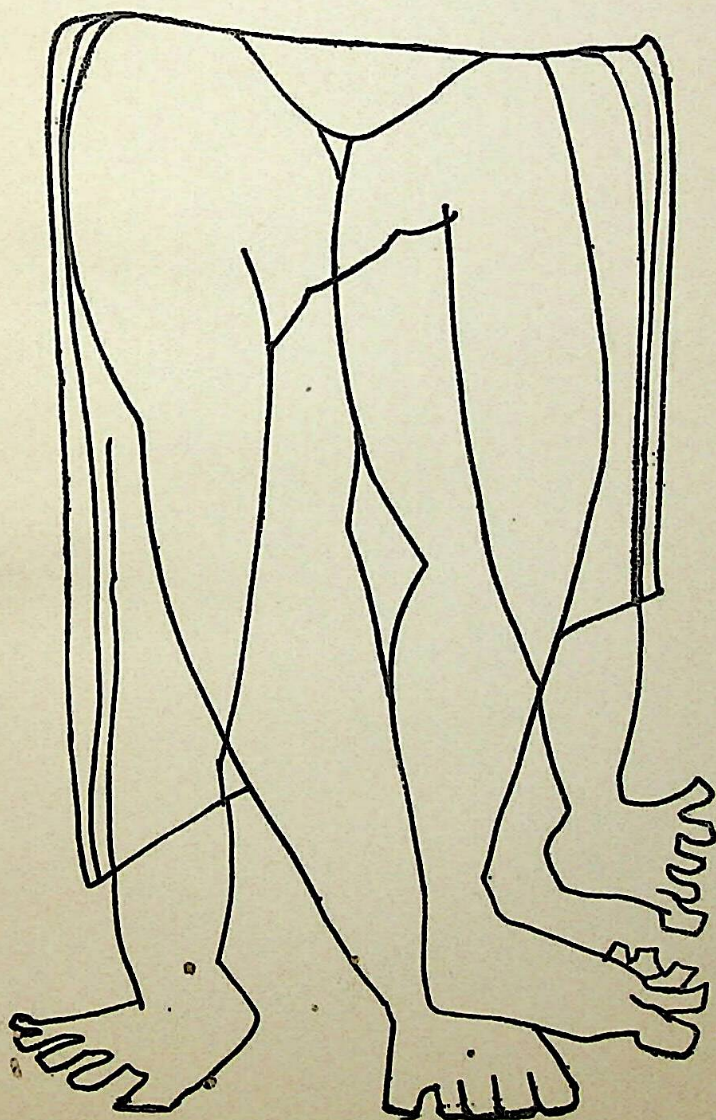
मेरे हाथों-पैरों के ऊपर
जीभ लपलपाता हुआ
एक कुत्ते का सर
उग आया है।
अच्छा किया तुम ने—
इस बहाने या उस बहाने
घिनौनी लार टपकाते
उस पशु को दुत्कार दिया।
पर वह
एक आदमी की देह पर उपजा था
इसीलिए शायद् कहीं

उस में था स्वाभिमान,
नहीं हो पाया वह निरा श्वान।

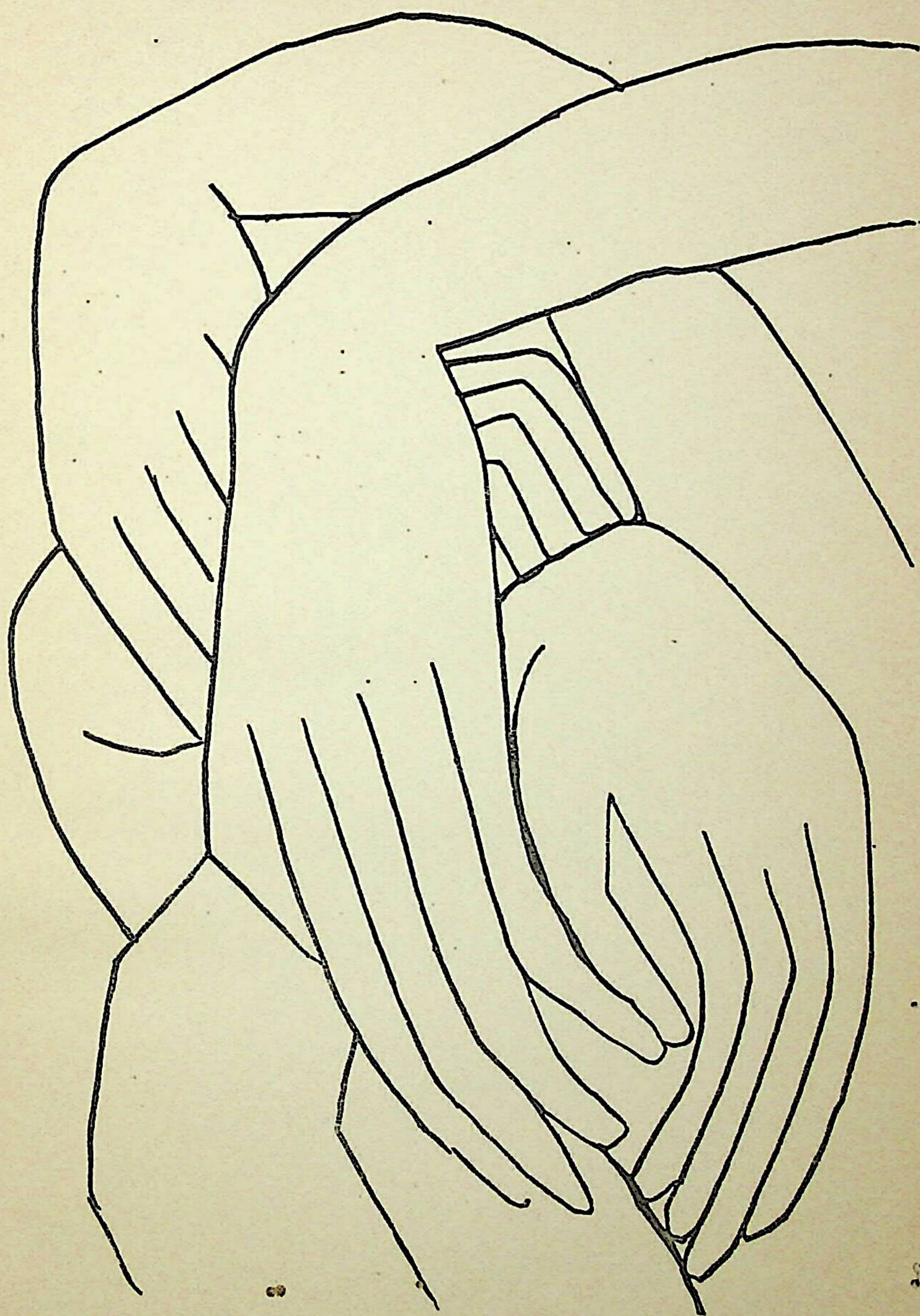
आती है उसें लाज
बार-बार खा के लात
पुनः पाँव पड़ने में।

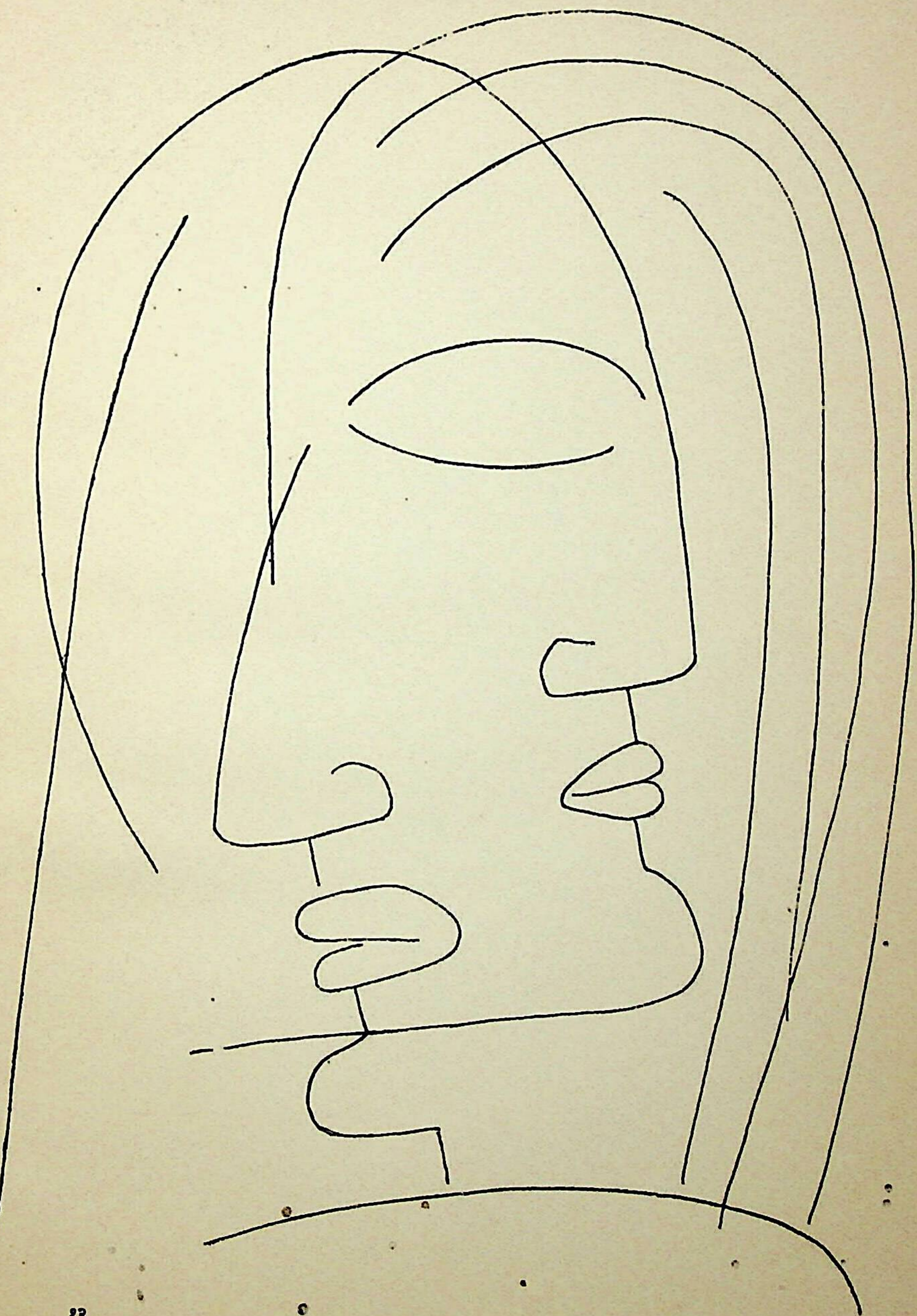
आखिर यह कैसे हुआ
छूट गया उस से तुम्हारा द्वार ?
दुतकारे कुत्ते की देह पर
आदमी का स्वाभिमानी शीश उगा आता है
करता हुआ सारे तिरस्कारों को नमस्कार।





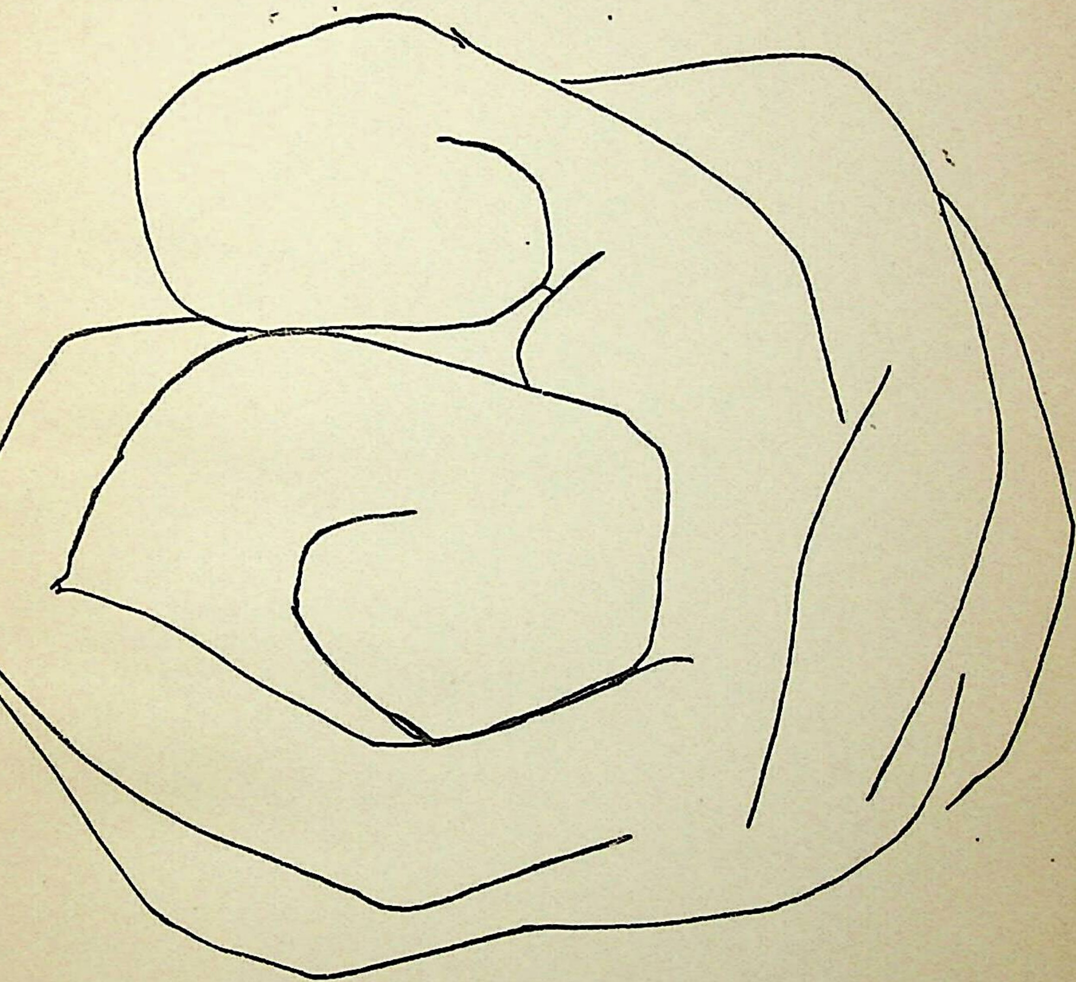
चित्र-मय





युग्म

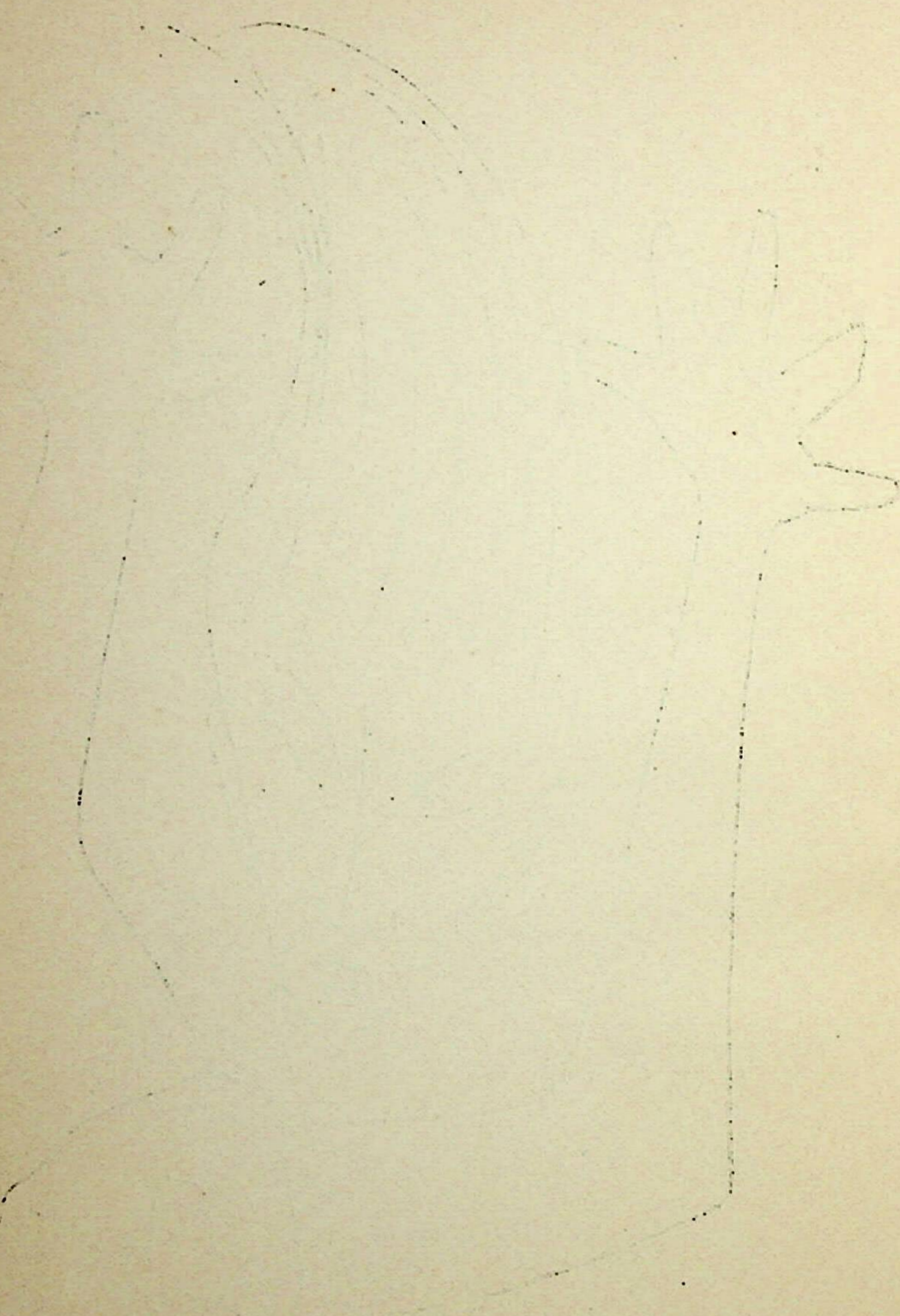


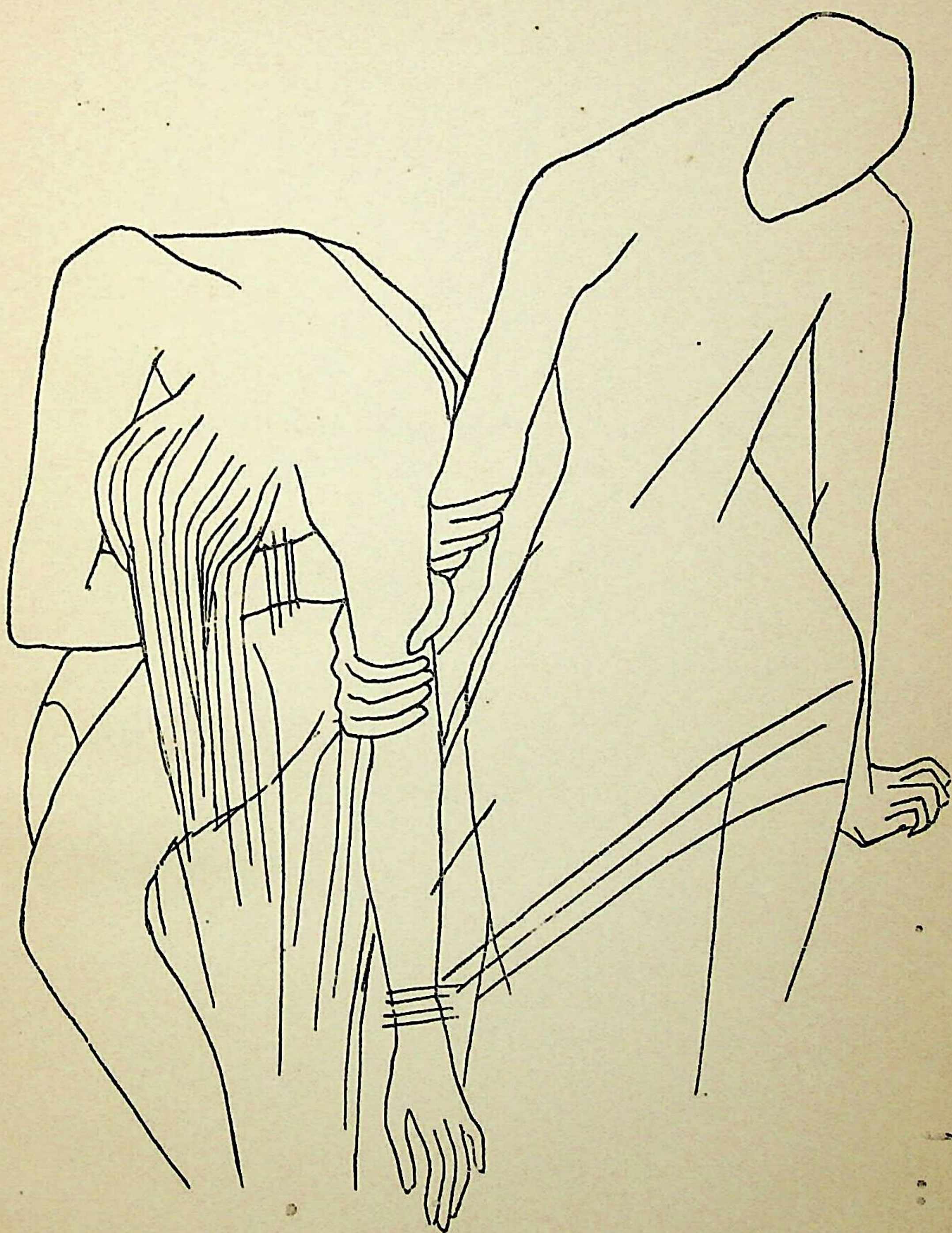


धुःम

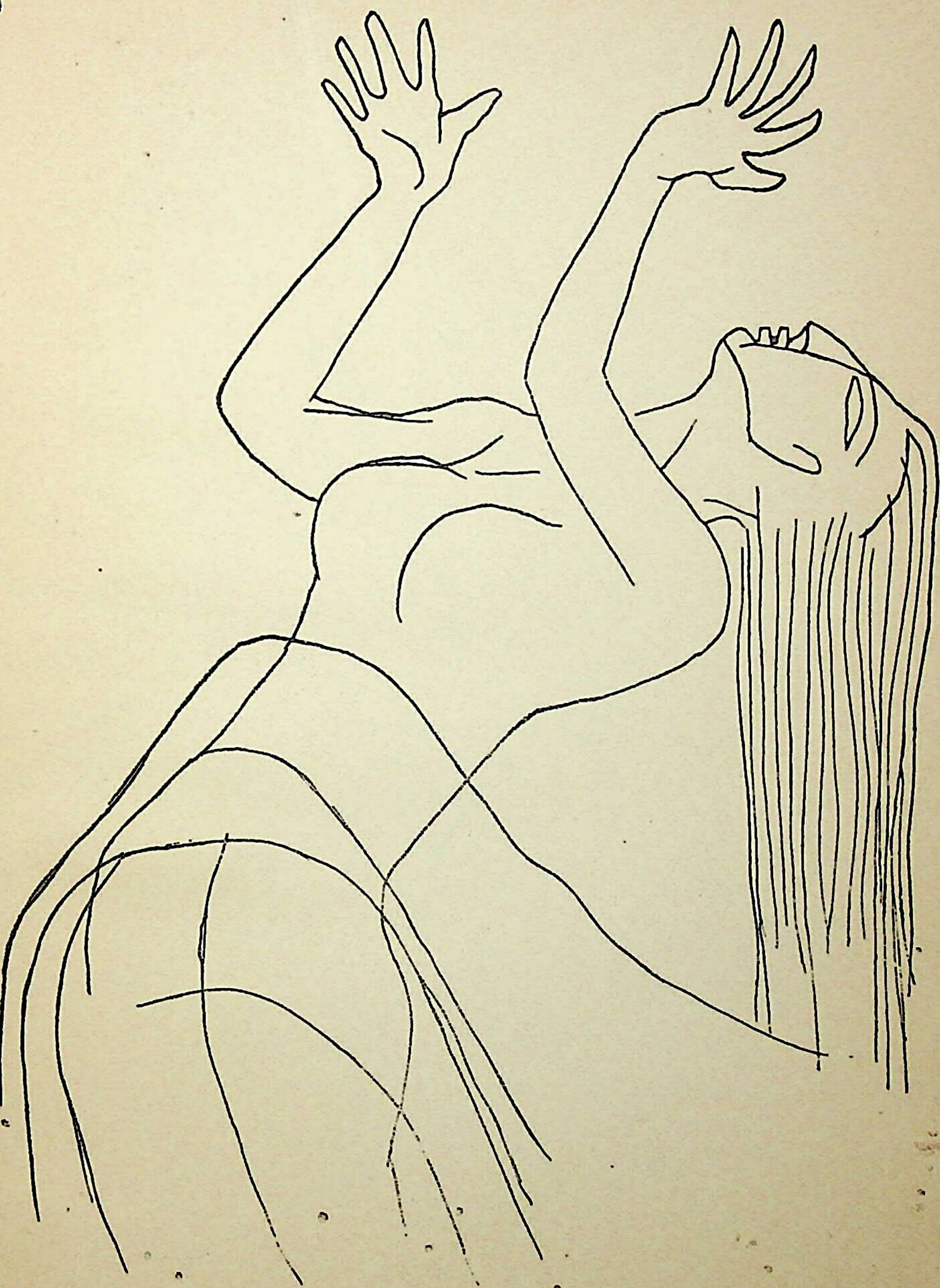






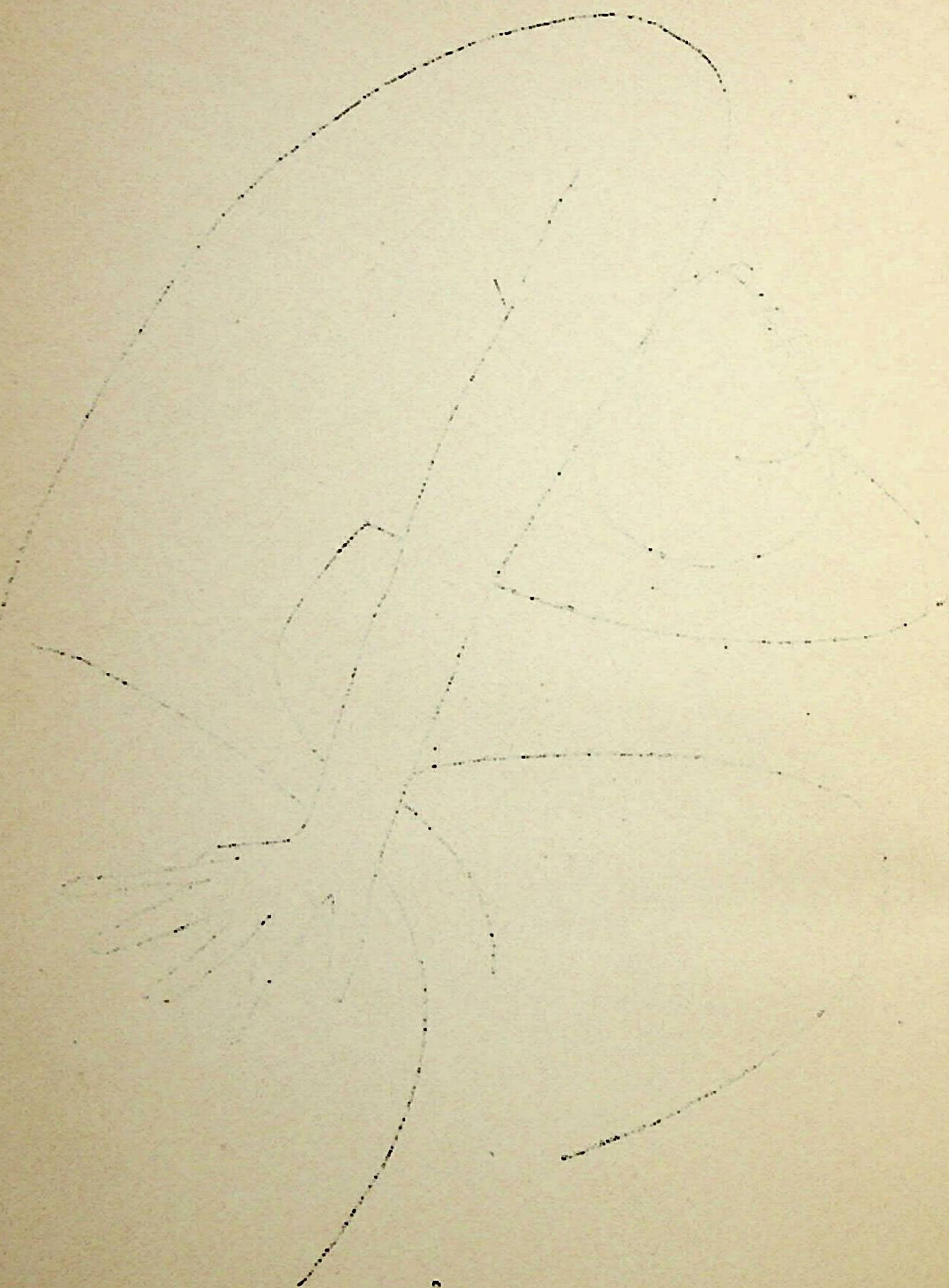




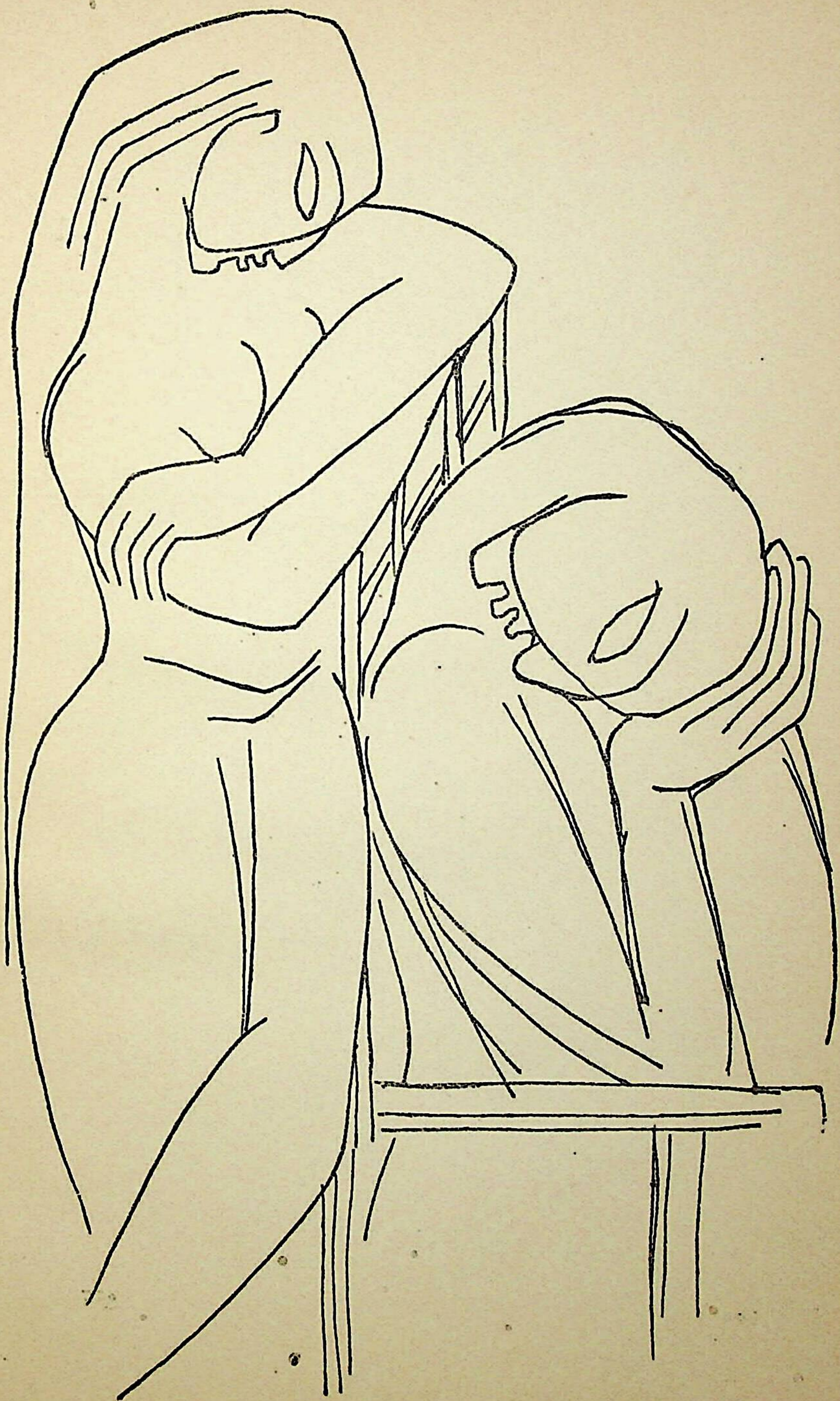


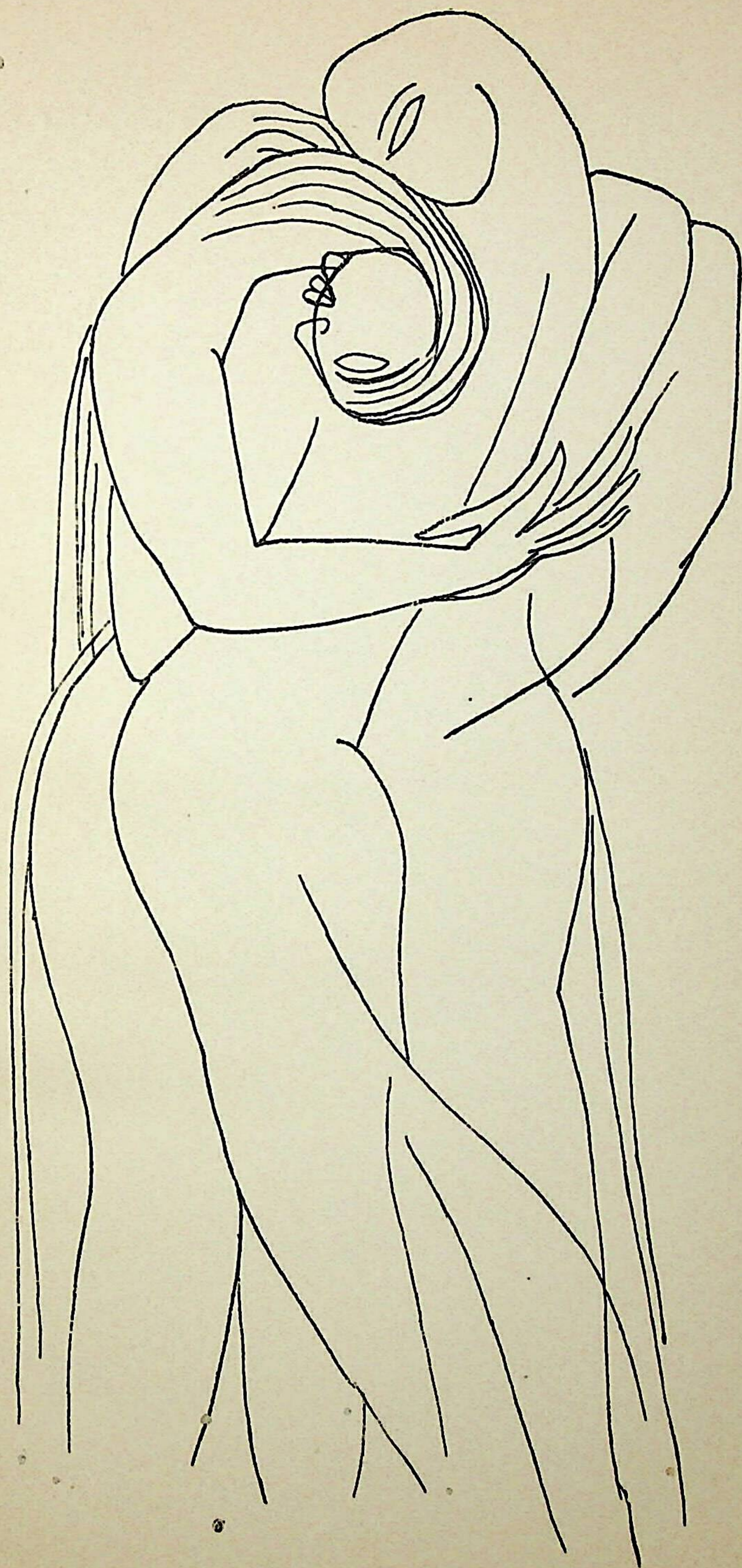
युग्म





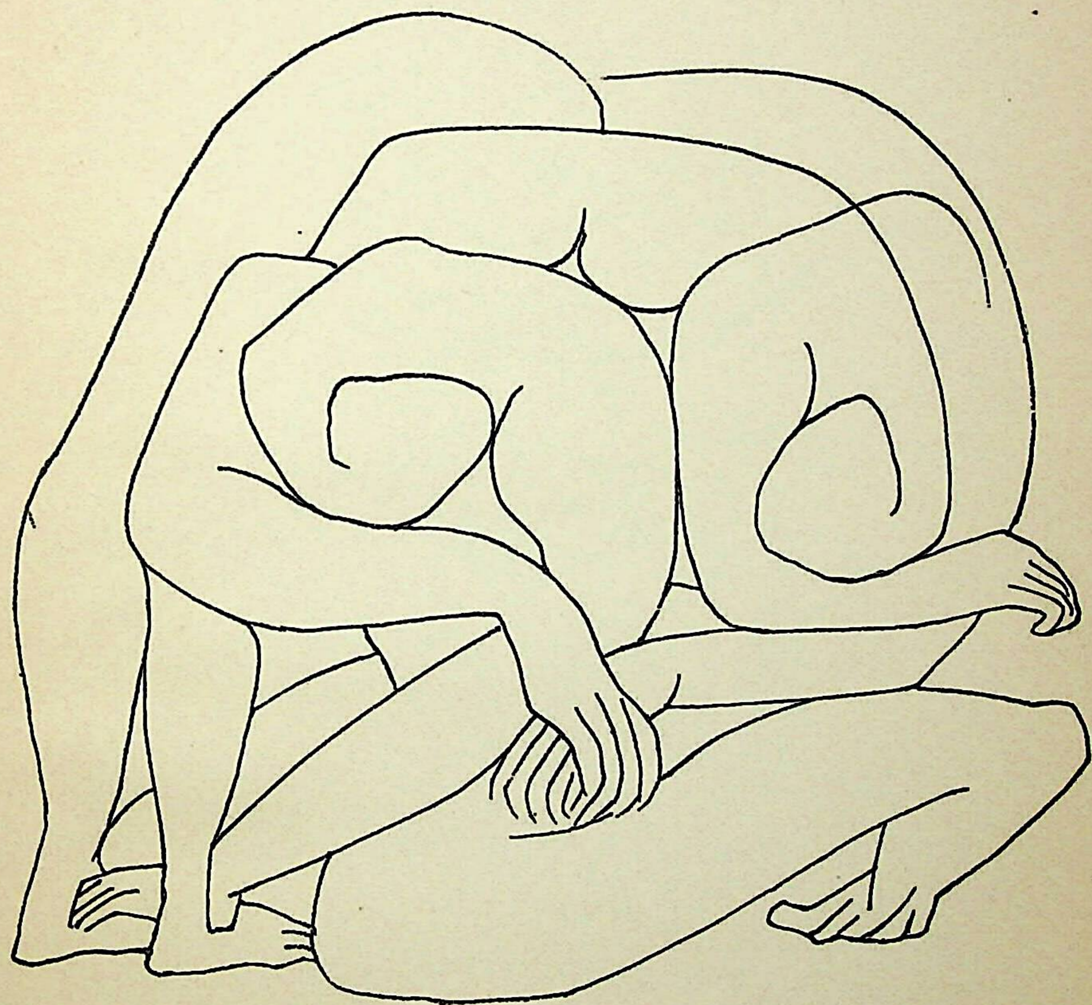
त्युग्म



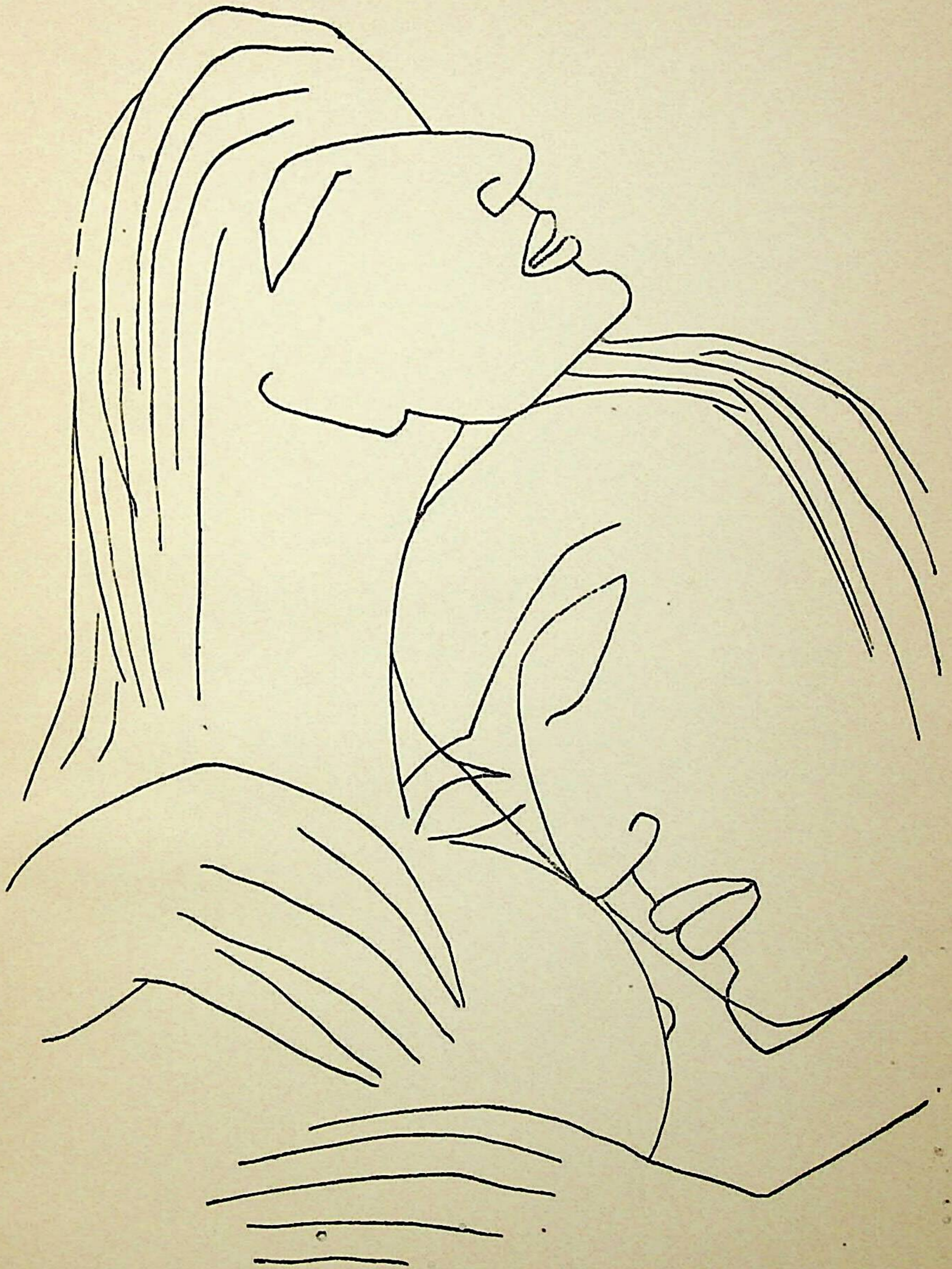


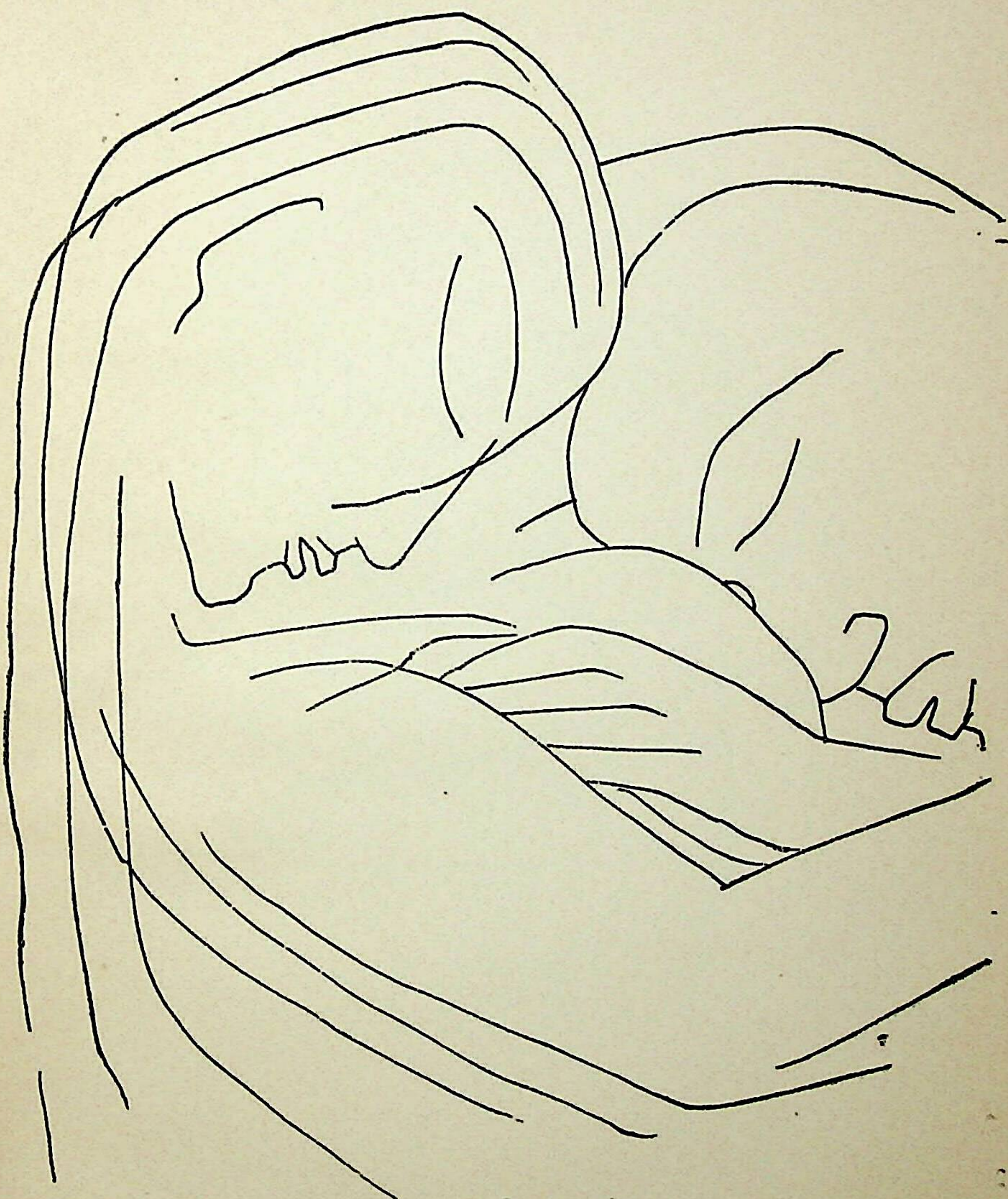
युग्म

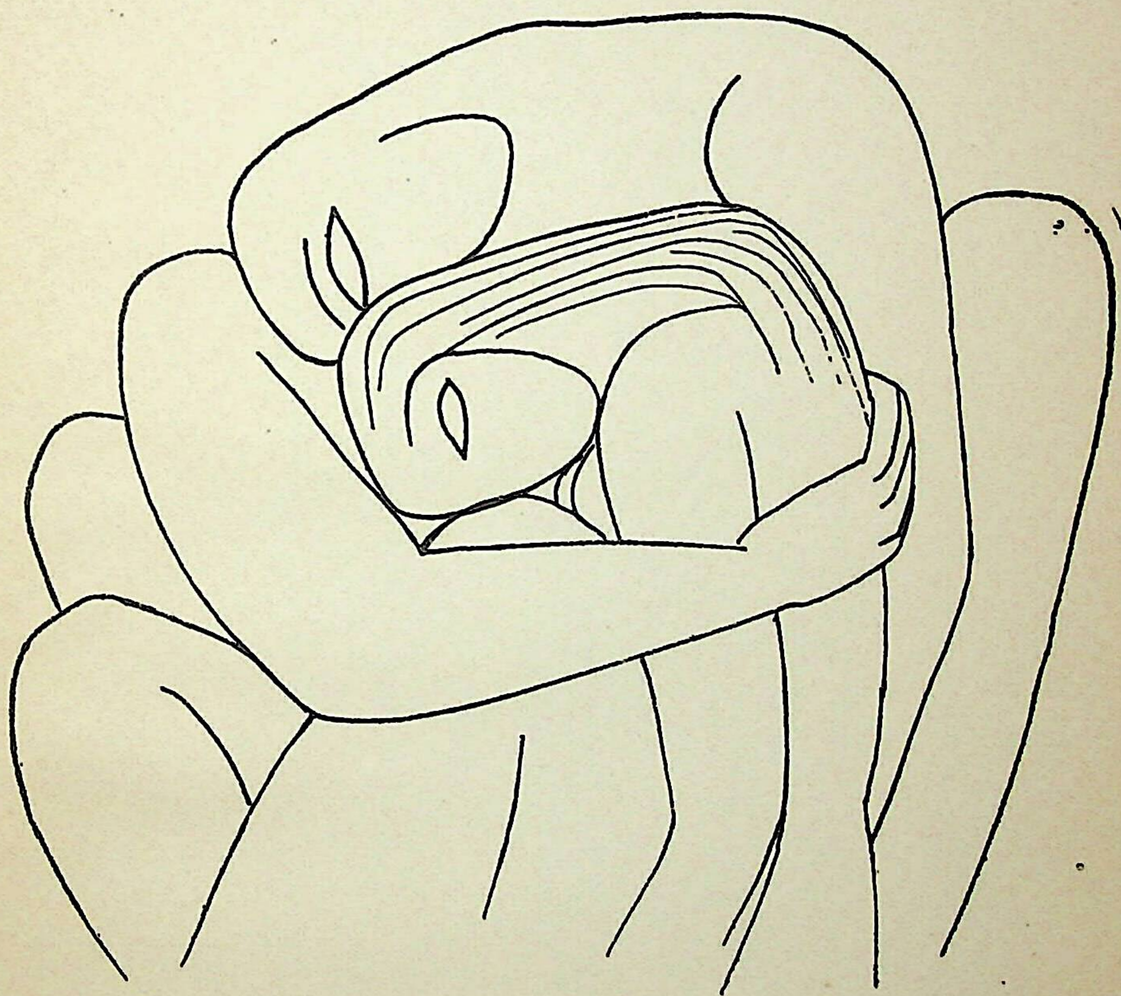






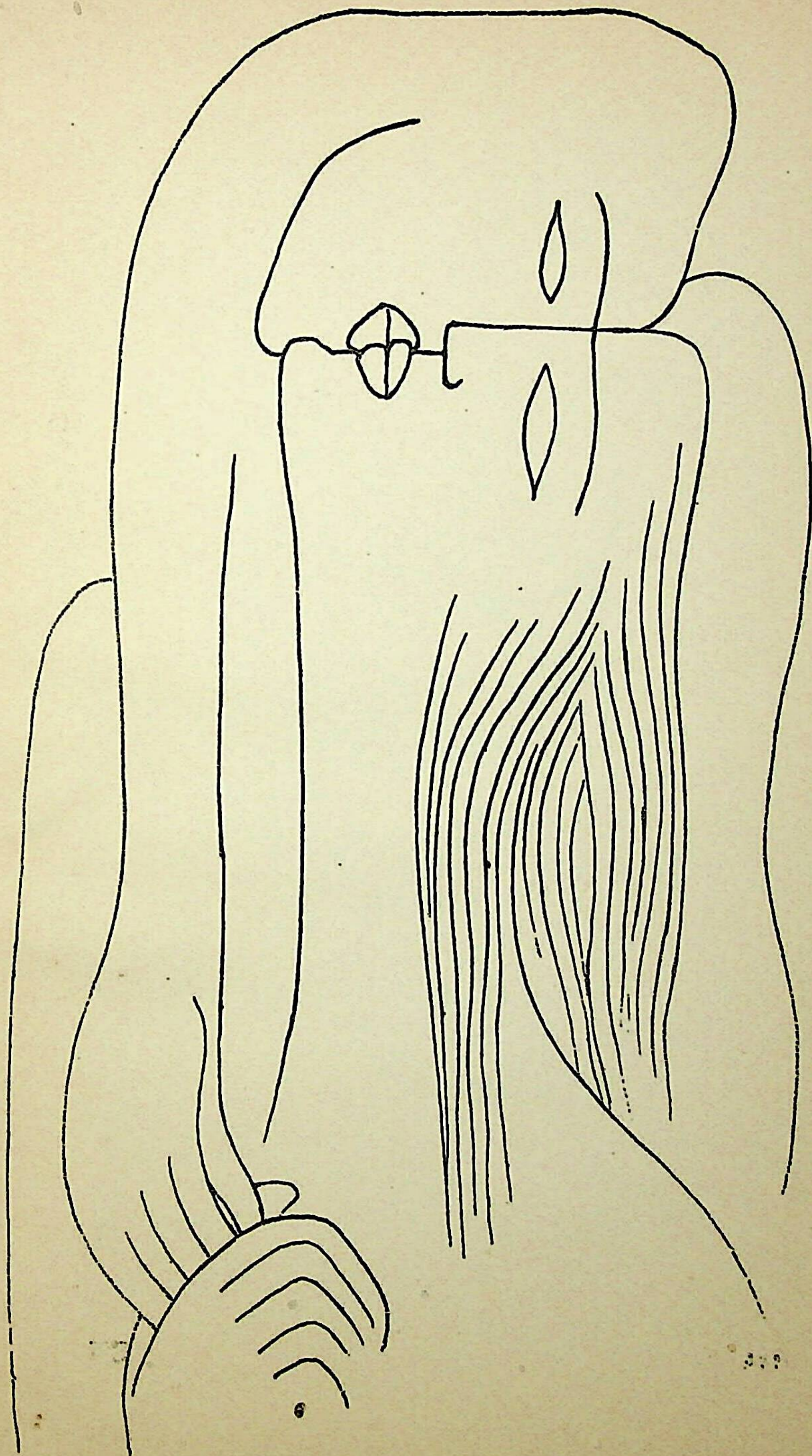


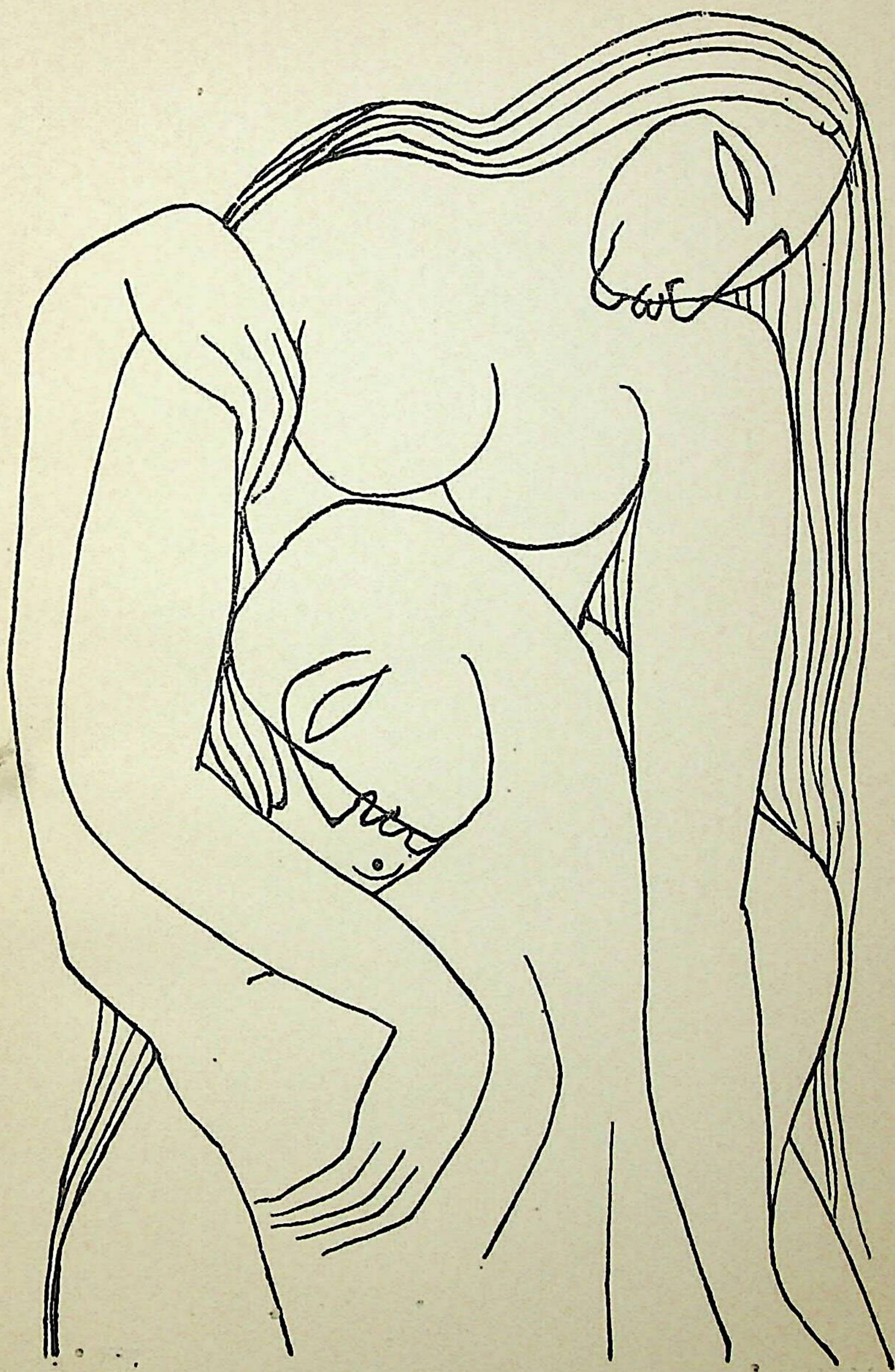


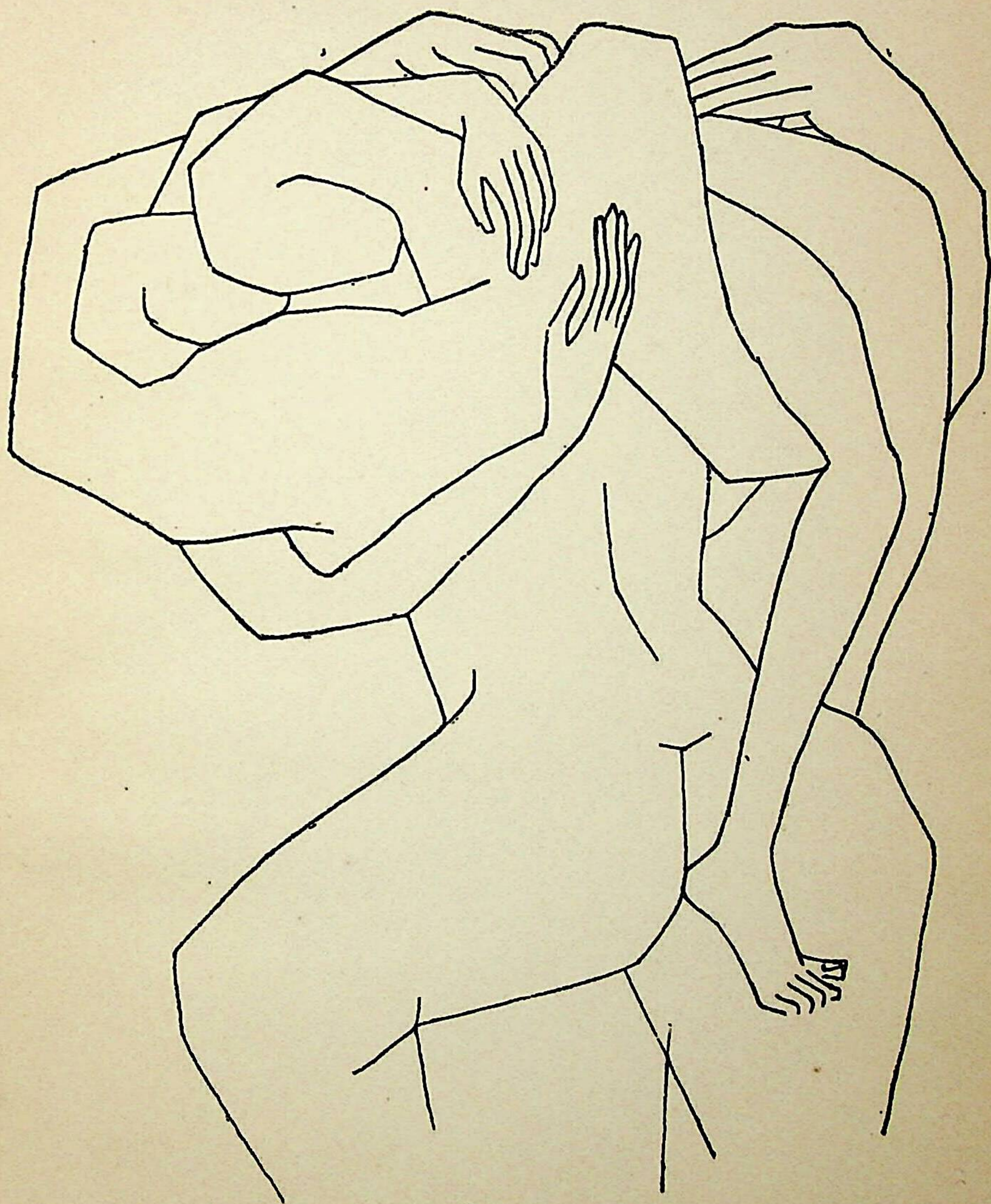


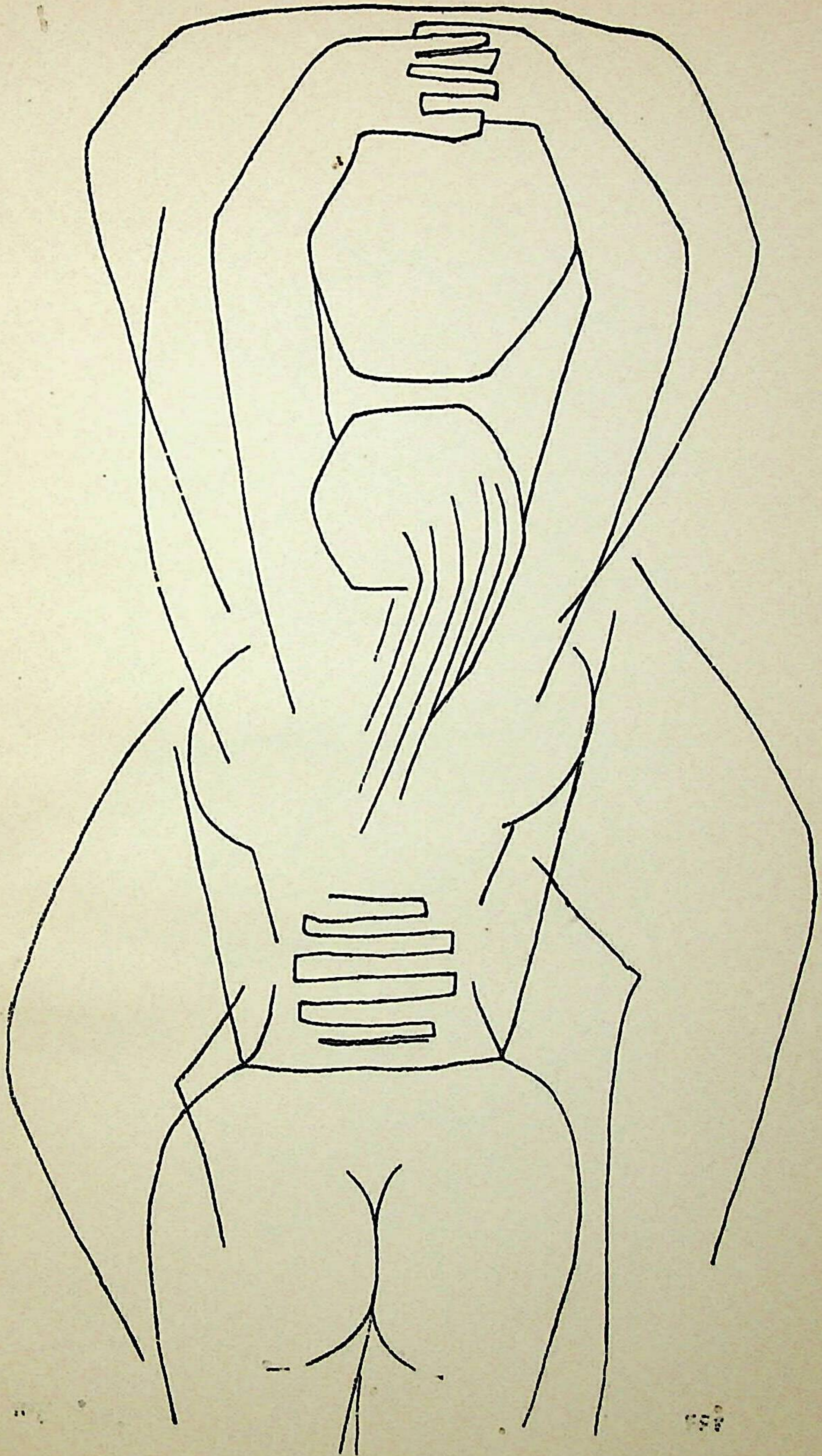


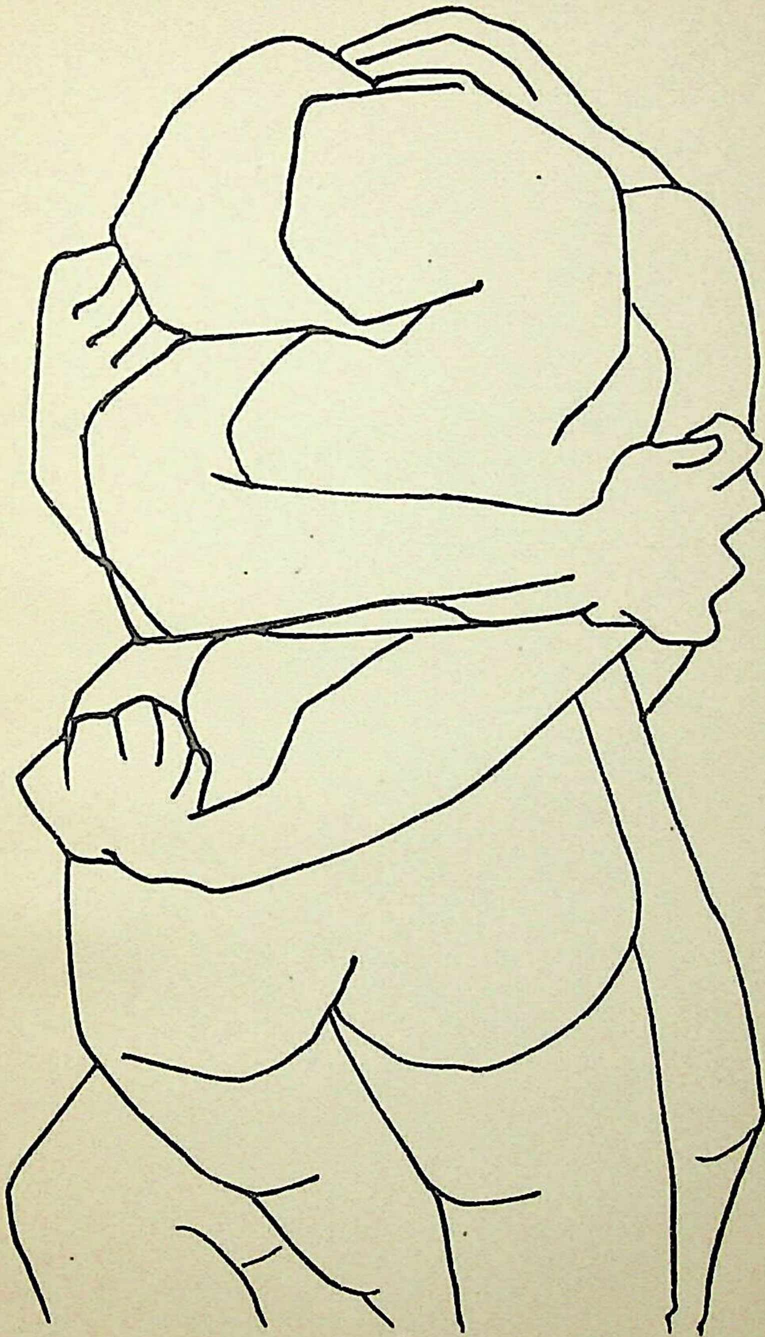
युग्म





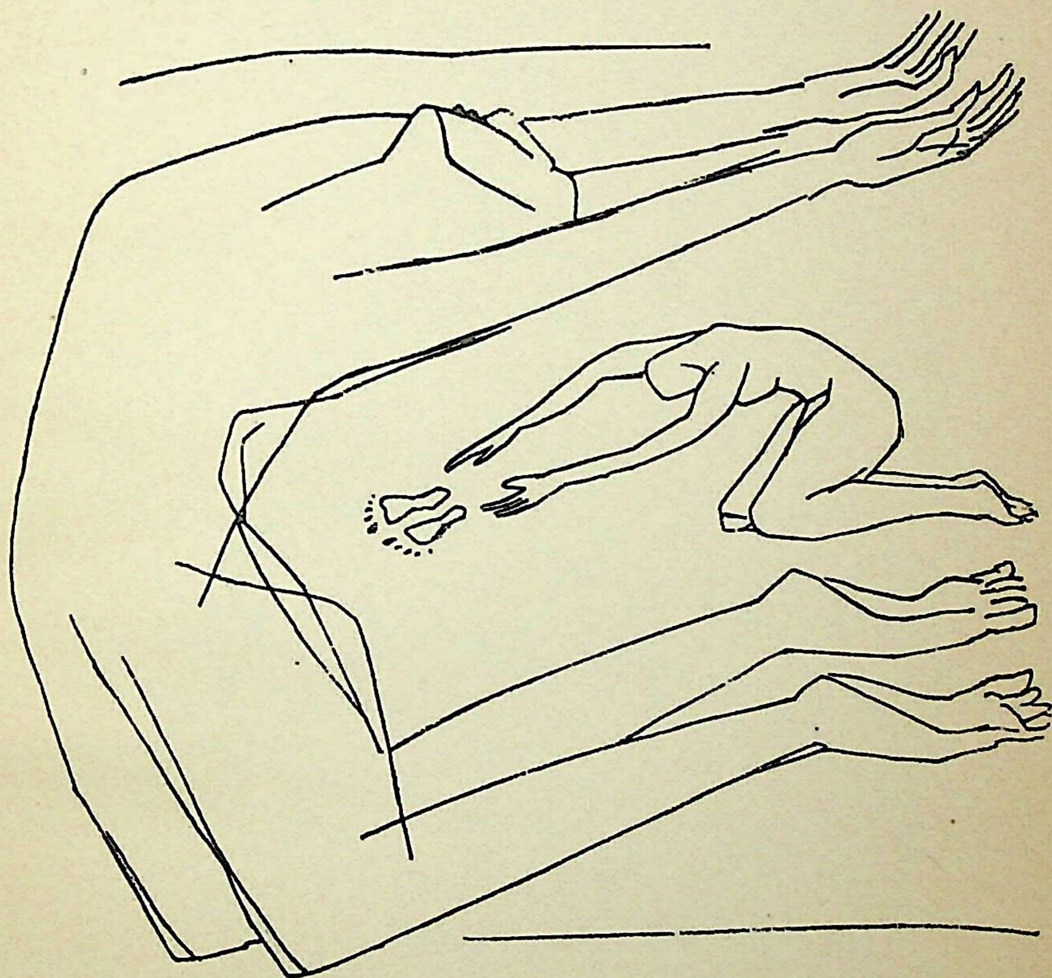


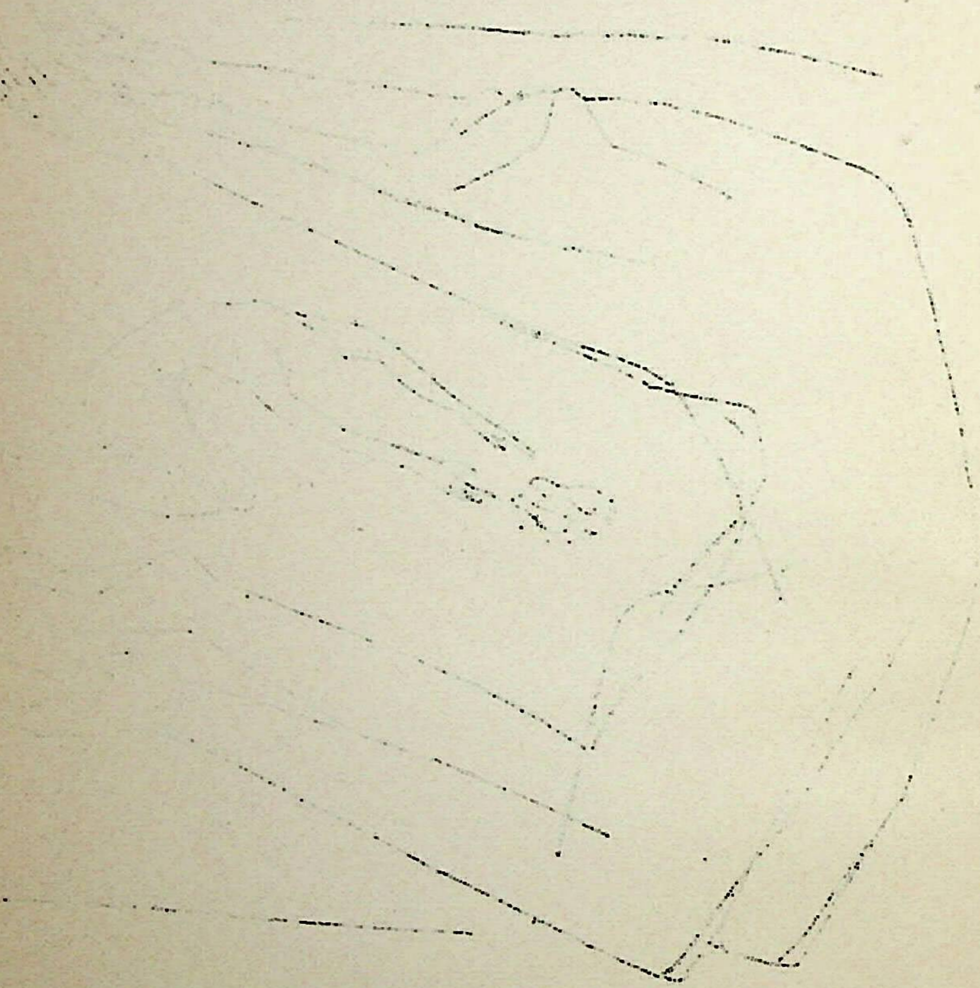










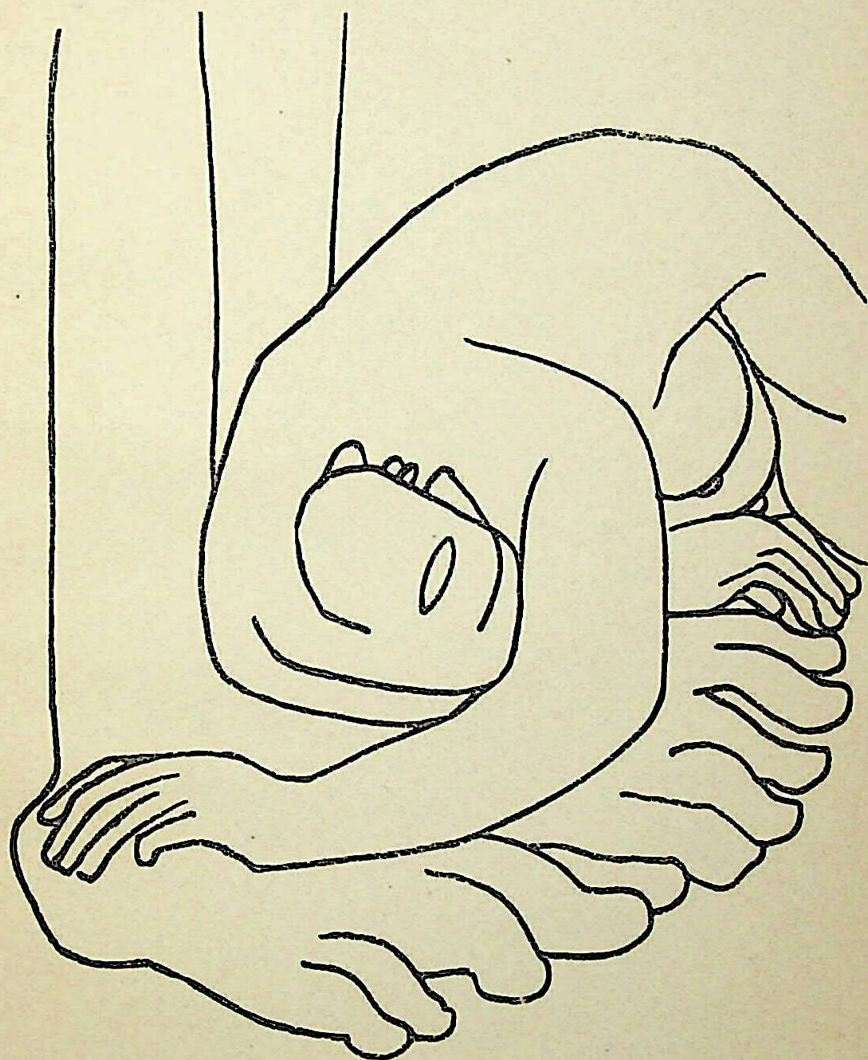


युग्म

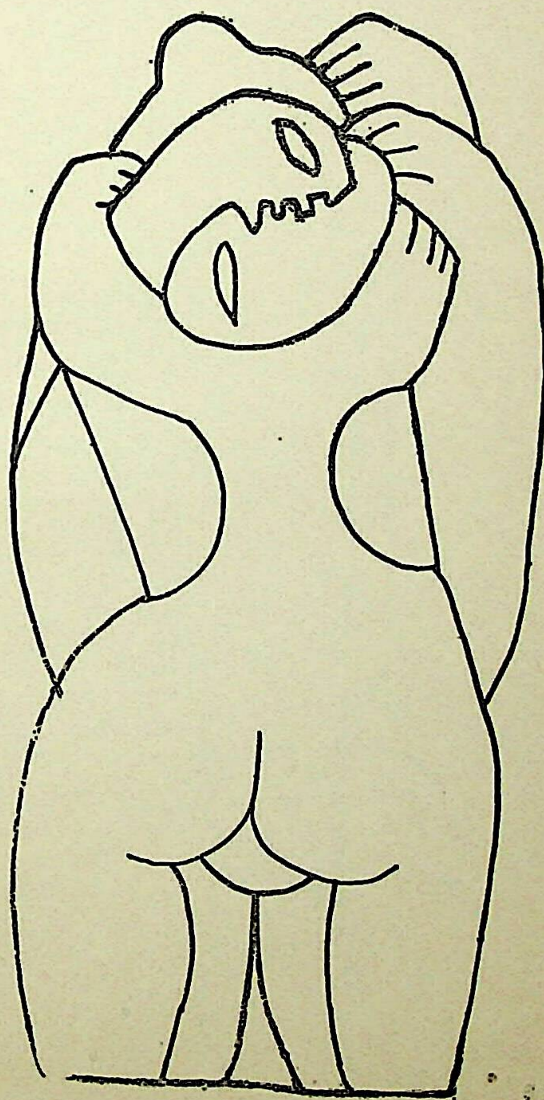




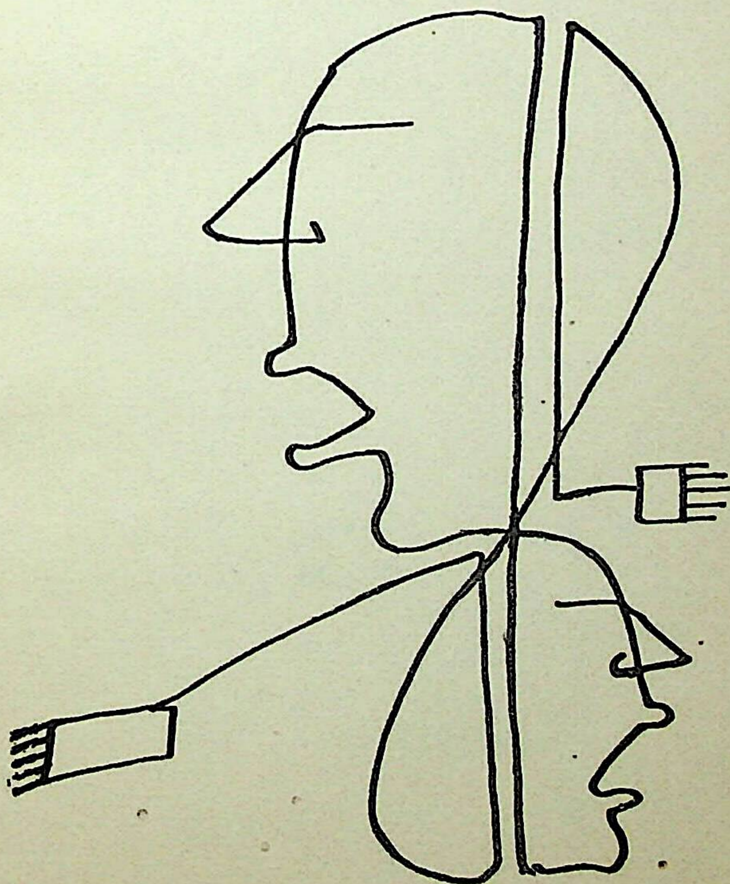
युग्म

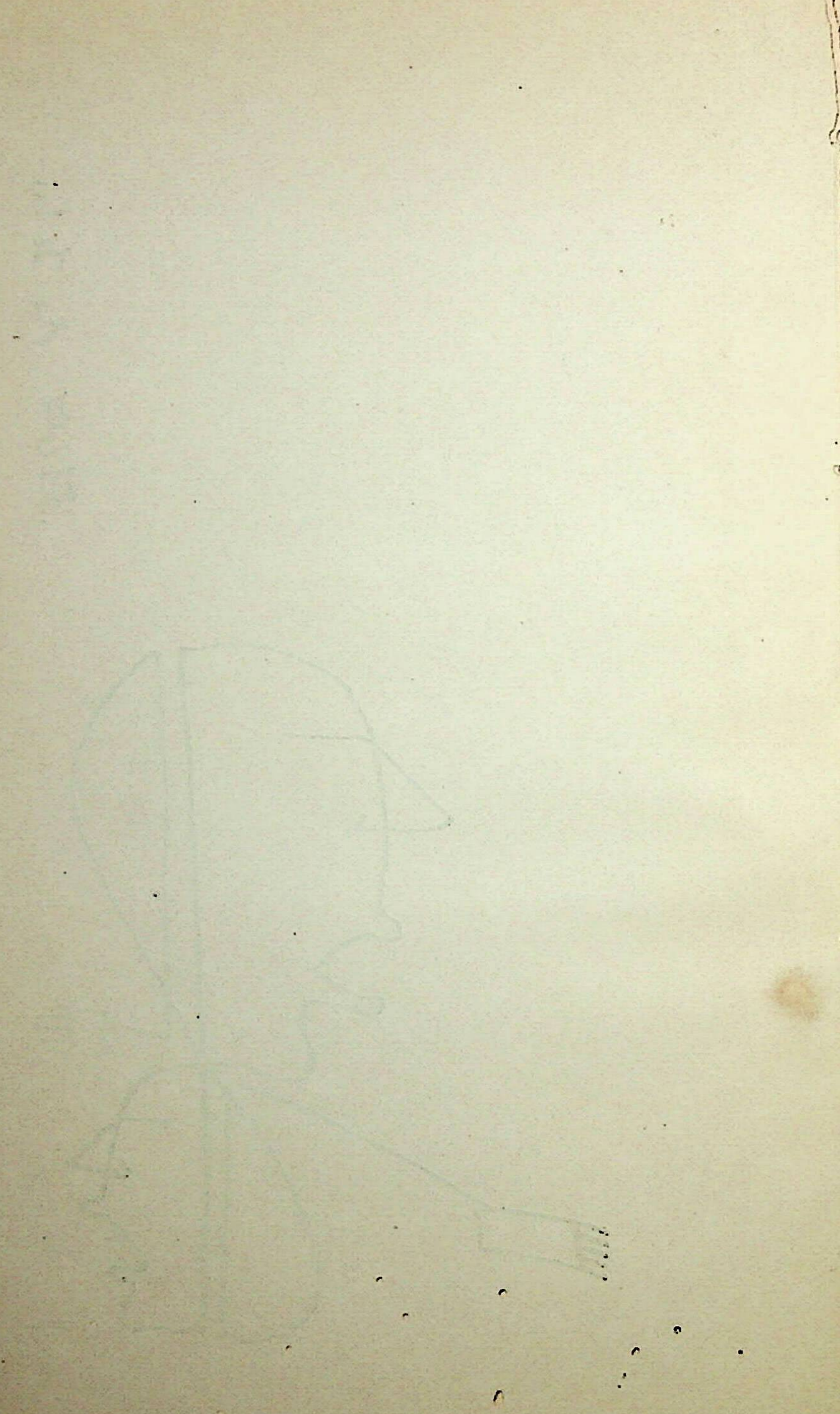






उतर युग





ब हु व च न

मुझ पर आसमान का बोझ है
उस पर किस का है
वह नहीं सकता ।
मुझ पर तुम्हारी छाँह रहे
तुम पर किसी की हो,
सह नहीं सकता ।

■

चिड़िया और उस की आवाज़

तुम पर
इस बात के लिए नाराज़ होना
तो एकदम निरर्थक है
कि औरों के साथ तुम्हारा सम्बन्ध
क्या और कैसा रहा है—या है।

निजी जीवन बिताने का हक़
हर किसी को मिलना चाहिए।
फिर—
जब हमारे चारो ओर
बहुवचन ही बहुवचन भरे पड़े हैं
तो गतिशील मन के क्रिया-पद
उन से अछूते कैसे रह सकते हैं ?
नाराज़ तो मैं
सिर्फ़ इस बात पर हूँ
कि एक से एक नायाब
इतने स्नेहियों के होते हुए
तुम ने मुझ पर अचानक
इतना प्यार क्यों बरसा दिया,
और अगर ऐसा किया भी
तो मुझे इतना क्यों नहीं पूर दिया
कि किसी और के अस्तित्व का
बोध ही शेष न रहे।
(ऐसा कह कर शायद मैं फिर
अपने को धोखे में डाल रहा हूँ।)
अब इस नाराजगी के लिए
तुम क्या कर सकती हो;
यह तो मेरी मजबूरी है।
हमारे बीच जो इतनी दूरी है,

बड़ी होकर वह अकसर
मुझे वहुत ज्ञान दे जाती है ।
पर मैं अपने को ज्ञानी नहीं
मानी ही समझता हूँ;
यों जब उस का मतलब
बेमानी होने के क़रीब तक पहुँच जाता है
तो मुझे बेहद तकलीफ़ होती है ।

एक चिड़िया है
जो मना करने पर भी
मेरे भीतर
सुवह-शाम रोती है ।

मैं अब जो कुछ हूँ
उसी की आवाज़ हूँ ।
न तुम से ख़ुश हूँ
न नाराज़ हूँ

गृध्द-दृष्टि

द्रौपदी-युग में भी
एक की उपस्थिति में
दूसरे का आना निषिद्ध था ।
नारी को अपलक निहारती
पुरुष की आँख के भीतर
चकोर के साथ ही हमेशा एक गिद्ध था ;
अब भी है, आगे भी रहेगा वह
उस ने भी देखा है—
सत्य का ऐसा रूप
जिस की उपेक्षा असम्भव है ।

बिन्दु से रेखा तक

उस दिन
तुम्हारे उतरे हुए चेहरे पर
कुछ अनुचित करते हुए
पकड़ लिये जाने का भाव था।
दूसरे दिन
मेरे ही सामने
सजधज कर आने में
सत्य को मुझ से छिपाने का भाव था।
और यदि सच कहूँ
अपने को, अपने रहस्य को,
मेरे व्यक्तित्व से बचाने का भाव था।
आँखों की शंकित, अतिरिक्त चंचलता में
सरिहन मुझे धोखे में लाने,
—वरग़लाने का भाव था।
पर मैं ने
विष के घूँट-सा
उसे भी पी लिया,
यन्त्रणा का चरम बिन्दु
होठों से कण्ठ तक
नीलिमा की रेखा बना
—जी लिया।

तरस तुम पर नहीं, अपने पर

अगर मैं जानता
कि तुम्हारी ज़िन्दगी
इतनी जगह
इस बुरी तरह उलझी हुई है
तो तुम्हारे सारे संकेतों,
सारे आवाहनों को नकारता हुआ
चुपचाप अपनी राह निकल गया होता ;
तुम्हारी नशीली भंगिमाओं का
सारा जादू झुठला कर
चैन की नींद सोता।
बरसों पहले
जिन्हें मैं ने समझा था
मुरझे हैं, बीते हैं,
देखता हूँ,
तुम्हारे मन के वे सारे उलझाव
अभी तक ज्यों के त्यों
हरे हैं , जीते हैं।
कह नहीं सकता
कि पश्चात्ताप का
यह गहरा-तूफ़ानी समुन्दर
जहाँ जिस ओर
मुझे ठेल रहा है
वही मेरी नियति है,
वही मेरी गति है !
सचमुच, अब मुझे तुम पर नहीं
अपने पर तरस आता है
कहाँ तो मैं
भुजाओं को पसारता हुआ
नीली लहरों के फ़ुफकारते

नागों से लड़ने चला था
और कहाँ अब
एक तिनके की तरह निरीह होकर
मटमैले फेन की सतह पर
चिपक कर रह गया हूँ।

साथी की तलाश

मैं तुम से एक सीधा सवाल करता हूँ
एक दम सीधा—'सचमुच ऐसा कौन है
जिसे तुम ने नितान्त अपना माना हो ?'
तुम्हारे चारों ओर जो भी पेड़ उगे हैं
और जिन की संख्या कम नहीं है
उन में से तुम ने किसे,
कैसे और कहाँ तक सींचा है
शायद इसे तुम
अपने से भी छिपा रखना चाहती हो।

पर हर आदमी पेड़ नहीं होता
कि अपनी देह पर खोदे गये अंकों को
पढ़ भी न सके।

मैं क़तार में रोपे जाने के लिए
तुम तक नहीं आया,
मैं तुम्हें वहाँ तक पाने के लिए
प्रतिक्षण छटपटाता हूँ
जहाँ तक तुम ने स्वयं भी
अपने को नहीं पाया।

मैं एक यात्रा पर निकला हूँ,
ऐसी यात्रा—
जो चेतना के गतिमय, सहज,
निजी रूप को
पहचानने के लिए की जाती है
और जिस में

एक ऐसा साथी चाहिए होता है
जो साथ भी दे
और पूरी तरह हाथ भी न आये।
शायद इसीलिए तुम में मेरी इतनी रुचि है
कि चाहते हुए भी मैं तुम से
अपने को मुक्त नहीं कर पाता हूँ।

कोई एक तीसरा

हमारे तुम्हारे बीच
एक तीसरा व्यक्तित्व
कभी-कभी आरे की तरह चलने लगता है।
मुझे उस की गति, उस की आवाज़
जितनी असह जितनी कर्कश लगती है
तुम्हें उस की तीखी कटान
उतनी ही भाती है।
उस की पतली, लम्बी, चमचमाती काया का जादू
तुम्हारे भीतर इस तरह पैठा हुआ है
कि तुम्हें अनुभव ही नहीं होता
उस घातक प्रक्रिया का
जो हमें कहीं गहराई में अलग किये जा रही है
मेरा दुख तुम्हें अपना दुख नहीं लगता
मुझे भी तुम्हारा सुख अपना सुख नहीं लग पाता।
मन की जिस सन्धि में उस की स्थिति
सहसा गति बन जाती है
वह बहुत पतली होते हुए भी
हमें बिलग करने के लिए काफ़ी है।
मुझे उस में न जाने क्यों अपने विरुद्ध
एक दुरभिसन्धि की गन्ध आती है।
हो सकता है यह सिर्फ़ मेरा भ्रम हो,
और उस का आना-जाना मात्र एक क्रम हो,
पर उस का होना तुम्हारी दृष्टि में

मेरा न होना क्यों बन जाता है,
इस का उत्तर तुम्हें देना होगा ;
नहीं तो उस की धार के आगे झुक कर
हमें आमूल विलगाव के पक्ष में—
निर्णय लेना होगा ।

तुम एक सी ज़िन्दगी कितनी जगह जीना चाहती हो,
उस आरे के सहारे मुझे क्यों इतना थाहती हो ?
कभी-कभी मैं यह भी सोचता हूँ
कि दो बीच तीसरा मैं ही तो नहीं हूँ ।

सत्य की पहचान

तुम्हारा तर्क मान लूँ तो तुम से मुझे
कुछ भी नहीं कहना चाहिए,
सब कुछ देखते-सुनते हुए भी
एकदम चुप रहना चाहिए ।

तुम यह क्यों नहीं समझतीं
कि अभी मैं मिट्टी नहीं हुआ हूँ
कीड़े-मकोड़े मेरे ऊपर पाँव रख कर
आ-जा नहीं सकते ।
तुम्हें उन की ज़रूरत हो सकती है,
तुम उन्हें चारा डाल सकती हो,
क्योंकि वे तुम्हारे सन्दिग्ध इतिहास के निर्माता हैं ।
पर मेरे लिए वे कीट-पतंग से भी बदतर हैं ।

जो तुम से कुछ मधुमय पायेगा नहीं,
वह दुनिया का काम छोड़ कर
तुम तक आयेगा नहीं ।
इस तर्क को काटना
तुम्हारे बूते की बात नहीं है ।

सत्य की पहचान सब को है,
सत्य का बोध सब कहीं है,
पर अपने भीतर की सच्ची प्यास को
पूरा समझ पाना
सब के लिए सम्भव नहीं है।

गले में कसता हुआ दायरा

दूध में मक्खी
कबाब में हड्डी
कौर में कंकड़
कितनी तरह कहूँ,
कुछ लोग होते ही ऐसे हैं
जो अपनी अप्रत्याशित
उपस्थिति से—
सब कुछ निस्स्वाद बना देते हैं।
तुम्हारे निकट
जैसे मुझे औरों की छाया
अवांछित लगती रही है
हो सकता है मेरी छाया से भी
औरों को तकलीफ़ हुई हो।
लेकिन दूसरों का दर्द
सिर्फ़ सोचा जा सकता है
भोगी तो केवल अपनी ही पीड़ा जाती है,
या उस की, जो अपना बन गया हो,
अपनेपन के दायरे में आ चुका हो।
(मैं जो यातना सह रहा हूँ
उस में तुम्हारी व्यथा भी शामिल है।)

खिंचाव ग़लत दिशा में हो जाय
तो यह अपनेपन का दायरा भी
गले की फाँसी से कम नहीं होता।

रस्सी से झूलता हुआ आदमी
सिर्फ़ जिस्म होता है, उस में दम नहीं होता।
क्या कह रहा था,
कहाँ भटक गया,
एक मनहूस बिम्ब
आँखों के आगे आकर
ख़ुद-ब-ख़ुद अटक गया।
गोया कविता लिखते-लिखते
मैं ही फाँसी पर लटक गया।

शव-भक्षी स्वाभिमान

नाराज़गी की बात है
इसलिए नाराज़ हूँ,
मैं ने कोई क़सम तो खायी नहीं थी
कि तुम कुछ भी कहो या करो
मैं हमेशा ख़ुश ही रहूँगा।

ऐसा आदमी ज़्यादा ख़तरनाक होता है
जो यह समझे ही नहीं
कि उस के कहे या किये का
दूसरों पर क्या असर होता है।
मैं नहीं मानता
कि स्नेह में स्वाभिमान नहीं होता,
जहाँ स्वानुभूति होती है
वहाँ स्वाभिमान भी होगा ही।
पर जब वह ठेस पाकर दरक जाता है
या चोट खाकर टूट जाता है
तो एकदम भयानक हो उठता है
शराबी चेहरे की तरह विकृत, विद्रूप।
आहत स्वाभिमान से घातक
और कुछ भी नहीं होता

वह या तो हत्याओं में डूब जाता है
या प्रेत बनकर
अपने ही शव को स्वयं खाता रहता है।

ध्रुवतारा : अंगारा

नहीं जानता था
जो ध्रुवतारा
अपने होठों से मैं ने
तुम्हारे वक्ष में उगाया
वह दहकता अंगारा बन जायेगा
देह के बाहर तक आयेगी छलक
भीतर पिघलती हुई सुर्ख़ आग,
ख़ून की रोशनी देता हुआ एक दाग़
सीने के बीचो-बीच
जलते हुए फूल का चिराग़।

ढाँक लो इसे
अपने सफ़ेद पल्ले से,
शायद हिमपात से—
लावा उगलता हुआ ज्वालामुखी दब जाय।

होठों के गुनाह से उपजे
इस अंगारे पर
आँखें नहीं
मैं टिका देना चाहता हूँ
अपना माथा।

मुक्ति-दान

मैं नहीं चाहता—
कि मेरे सम्पर्क से
तुम्हारी ग़लतियों की
चमकदार श्रृंखला में
एक कड़ी और जुड़े।

मैं तो यही चाहता हूँ—
मुझ से सम्पृक्त हो
अनुभव की नयी दिशा में
तुम्हारा सारा इतिहास मुड़े।

करता हूँ मुक्त तुम्हें,
अपनी राह जैसे भी चाहो चलो ;
वक्ष के आकाश में तुम्हारे,
ध्रुव होकर मैं—
प्रस्तुत रहूँगा ही,
तुम मुझे अपने साथ लो या न लो।

तपते शब्द

काश !
बोलती हुई स्त्री
पुरुष को जो कुछ समझाना चाहती है
उसे स्वयं भी समझ पाती ।



मध्यस्थ विश्वास

क़रीब-क़रीब मेरे पाँवों पर गिर कर
जब तुम ने मुझ से कहा था
अपने अनन्य आत्मसमर्पण के विषय में
वह भी मेरे ही प्रति
तो तुम्हारे शब्द झूठे थे।

सत्य कठोरता से भी कहा जा सकता है
पर असत्य को
कोमल और मोहक बना कर ही कहना पड़ता है,
तुम ने मुझे छलने में सुख लिया
और मैं ने छले जाने में,
पर जो बीच में मुझ को
तुम्हारे कथन पर थोड़ा सा विश्वास हो गया था
वह रह-रह कर सालता है।

बुरा न मानना अगर मैं कहूँ—
कि तुम ने न 'समर्पण' को जाना
न 'आत्म' को पहचाना
और न यही सोचा
कि किस से क्या कह रही हो।

कंकाल-वाक्य

सारे सम्मान भरे शब्दों के बीच
इतना अपमानजनक
एक वाक्य

हरे-भरे लहराते कछार की—
छाती पर पड़े—कंकाल सा
अशुभ, तीक्ष्ण।

क्या हुआ हमारे विश्वास का
यदि एक ने दूसरे को
पैने अर्थ–भाले से कोंचा
शब्दों के दाँतों से पंजों से नोंचा ?
कहाँ गया उस क्षण हमारा वह
मौन से लिखा मानवीय अनुबन्ध-पत्र ?

हम ने यदि छोटी सी बात पर
अपने को पशुता से भी नीचे गिरा दिया।
क्या कहूँ—कितना
आदमी को आदमी
बनाया है भाषा ने।

गृह-दाह

होठों पर
रेखांकित रक्तिमता
पढ़ भी नहीं पाया था
एक-एक रेखा से
फूट पड़ीं
अनगिनती अर्चियाँ।
हर शब्द दहका हुआ अंगारा
हर अर्थ उड़ती हुई चिनगारी
कहीं झुलसा
कहीं जला
कहीं स्याह पड़ा
पूरा का पूरा
वनान्तर मन
धधक उठा।

नीचे से ऊपर तक
सारी दिशाएँ हो गयीं लाल
जल कर हर नयी शाख,
हुई राख।
तुम्हारे रक्तिम होठों से निकल कर
मेरी आँखों में
भर गयी है तेज़ कड़ुआहट
आसमान में—
अब सिर्फ़
धुआँ ही धुआँ दीखता है।

अपने ही घर में—
कहीं कोई ऐसे आग लगाना सीखता है!

स्नेह-गीत

उस क्षण
तुम्हारी सारी देह
भय से थर-थर काँप रही थी,
चेहरा बहुत ही उतरा हुआ था,
और होठों के ताज़े गुलाब
बेतरह सूख गये थे।

हमारा स्नेह
इतना निकम्मा हो, कायर हो!

किस को होगा अभीष्ट
आत्मबलरहित प्रणय!
किस को होगा वरेण्य
दुविधा में पड़ा हुआ
शंकित मन!

अपने को,
हम जितना देखते हैं
उस से अधिक, सूक्ष्म,
और कौन देखेगा।

नैतिक है जो कुछ
हमारी अनुभूति में
कैसे उसे कोई
अनैतिक ठहरायेगा !

चाहे जो तर्क दे
अपने आभ्यन्तरिक तोष को छोड़ कर
कोई क्या पायेगा ?

दोहरी चीख़

मेरे कान में
हलके से चीख़ कर
अन्तिम बिन्दु पर
तुम ने नहीं किया अंगीकार
मेरा या कि अपना प्यार,
मन में सहेजा नहीं
फेंक दिया ठीकरे सा
अपने घर के बाहर
मेरा आहत, टूटा अहंकार।
अपने किये का
करने को प्रायश्चित्त
विवश हूँ, लगता है
जैसे सारा जीवन
आग की प्रज्वलित नदी में—
बहते हुए बीत गया ;
शेष है अब भी किन्तु

जलती कनपटी के पास
लावे की धार
इतनी असह्य, इतनी दुर्निवार !
फूट कर सहसा
पूरी तरह बहे बिना
सूख ही तो गया
एक सोता
इन अंगारा आँखों में।

दे दी तुम्हारे क्षीण हाथों में वागडोर
नहीं किया अपने पर अनुशासन
ठेस तो लगती ही थी मुझ को,—लगी
किन्तु भूलेगा नहीं
यह अनुभव
रक्त के भीतर धधकती दावाग्नि का।

झुलस कर
त्वचा के साथ ही रोम-रोम
करता है पश्चात्ताप
नहीं, नहीं, नहीं
अब कभी नहीं
कभी भी नहीं अब
वह सब
जो शायद तुम्हें भी प्रिय लगता था।

क्या मैं ने तुम्हारी चीख़ का उत्तर
निःशब्द
दूने वेग से चीख़ कर नहीं दिया ?

प्रस्तर-पुरुष

अपने ही कहे हुए शब्दों के प्रति
तुम्हारी अपार निस्पन्दता

मुझे पत्थर बनाती जा रही है।
पुरुष हूँ तो भी
मेरे लिए अहल्या के पाषाण बन जाने का अर्थ
समझ पाना
अब दुष्कर नहीं रहा।

विकसित शब्द-बोध से
देखता हूँ इस युग में
जड़ता
स्त्री की नहीं
पुरुष की नियति बनती जा रही है।

काश !
बोलती हुई स्त्री
पुरुष को जो कुछ समझाना चाहती है
उसे स्वयं भी समझ पाती।
यदि कहते समय
तुम्हें बोध नहीं हुआ
कि तुम ने किस से क्या कह डाला,
तो कहने के बाद ही होता।

पर अब लगता है—
तुम्हें बदलना सम्भव नहीं है,
और न तुम्हारा स्वयं बदल जाना।
तुम्हारे लिए शब्दों की सारी प्रतिध्वनियाँ
विस्मृति में खो गयी हैं,
पर मेरी यन्त्रणा अब भी ज्यों की त्यों है।

एक मुख, एक काँटा

लाख चाहने पर भी
कही हुई बात—मुख में
जन्मी हुई काया—गर्भ में
फिर से सहेजी नहीं जाती।

होठों के धनुष से
छूटा हुआ शब्द-शर
फिर जीभ की प्रत्यंचा से
कभी आकर नहीं जुड़ता।
प्रकट किया हुआ अभिप्राय
काल-भैरव की मूर्ति का
खुला हुआ मुख है
जो कभी बन्द नहीं होता।
वह भाव या अभाव
एक निरन्तर सालनेवाला
काँटा नहीं तो और क्या है
जिस के पूरे होने की सम्भावना
दलदल में फँसी हुई भैंस
और खाईं में गिरी हुई गाय
की तरह केवल निष्प्राण होने की
प्रतीक्षा कर रही हो।
चेहरे पर पुता हुआ
कभी न छूटनेवाला अपमान !
हत्याहरन नहा कर भी
न धुलनेवाला महापाप !
जन्म-जन्मान्तर तक
ढोया जानेवाला असह अभिशाप !

और कितना कहा जाय
उस अनुभव के लिए
जो अपने आप में अकथनीय है।

घायल शिला-चित्र

भल्डरिया नदी की सुनसान घाटो में
जिन आदिम चितेरों ने
पत्थर पर घायल सुअर का
चित्र बनाया
उन्हें नहीं मालूम था कि वे
अनजाने ही
आदमी की पीड़ा आँक रहे हैं।

उस की देह में धँसा हुआ, टूटा हथियार
उस का दर्द की कराह से खुला हुआ मुँह
हज़ारों साल से खुला का खुला है
यातना का अंकन भी
कितनी बड़ी यातना है।
क्यों नहीं किया फिर किसी ने ऐसा चित्रण
पशु की पीड़ा का ?
और क्यों हर देखनेवाले को लगता है
कि यह पशु का नहीं
उसी का चित्र है ?

पीड़ा हर जीवधारी का सहज अनुभव है,
उस में आदमी और पशु का अन्तर नहीं होता।
ममता परिभाषाओं में बाँध कर नहीं दी जाती।
तुम्हारे तीखे-नुकीले शब्दों से घायल
अब मैं सिर्फ़ एक जानवर हूँ
—एकाकी, शिलांकित।

चाप पर चढ़ा दर्द

चाहता हूँ युगों पुरानी
ताँबे की खाँचेदार भारी कुल्हाड़ी से
अपनी हड्डियों के जोड़-जोड़
स्वयं ही काट कर फेंक दूँ
और चीख़ का सहारा लिये बिना ही
सारी यन्त्रणा झेल जाऊँ—चुपचाप ।

किसी तरह छोटी पड़ जाय
साँसों की वह घुटन
नसों की वह ऐंठन
जो किसी भीतरी चोट से उपजती है ।

चाप पर चढ़े दर्द से
चटख़ता-फटता कपाल,
बूँद-बूँद ढलता हुआ
आँख का पानी
भाप बन कर
बीच में ही उड़ा जाता है ।
जब तक धौंकनी चलती है,
कलेजे की भट्ठी
आग ही उगलती है ।
तिल-तिल कर अपने को मारना
ज़्यादा अमानुषिक है,
एक साथ काट कर फेंक देने से
अपनी ही देह के टुकड़े
अपने आप ।

तीसरा नेत्र

उस दिन
मेरी—
और शायद अपनी भी
सहज इच्छा का तिरस्कार कर के,
तुम्हें नहीं मालूम
कि तुम ने कितना-कुछ खोया है।

तुम्हारा देवता न शिव है न काम,
तुम ने केवल अपने अहंकार को पूजा है
या मात्र भय की उपासना की है।

एक भारी आत्मप्रवंचना की अग्निरेखा
तुम ने अपने चारों ओर
स्वयं ही खींच ली है,
उस के ताप ने तुम्हें
मुझ से अधिक ही झुलसाया होगा।
अपने को छलकर
कोई सुखी नहीं हुआ है;
तुम ने जो आग लगायी है
उस में मैं ही नहीं जलूँगा,
तुम्हें भी क्षार होना पड़ेगा।

हमारे भीतर
एक तीसरा नेत्र भी तो रहता है
जो सब कुछ निर्निमेष देखता है
अमिट है उस की सत्ता!
अजेय है उस की शक्ति!

अस्वीकृति का ताप

सम्भव नहीं है
अपने ही किये प्यार का
प्रायश्चित्त
तो भी—अपनी अस्वीकृति से
तुम ने मुझे कर दिया विवश
करने को पश्चात्ताप
उस पर जो प्रेरक था,
दीप्त था,
अँधेरे में मुझ को दे जाता था
आत्मीय रोशनी।

अपने किये पर
शायद तुम्हें भी हो रहा हो, पछतावा,
पर मैं ने उस के लिए
तुम्हें विवश नहीं किया।
विवशता सदा ही अभिशाप है,
अन्तरंग इच्छा के प्रतिकूल
परवश आत्मदान भी पाप है।
एकता के निविड़तम अनुभव की लालसा
देह की राह से ही
देह के पार तक जाती है।
तुम ने मुझे होठ दिये, बाँहें दीं, वक्ष दिया
और भी कितना कहूँ
स्पर्शों के कोष से मैं ने क्या नहीं लिया।

फिर भी जो एक सहज स्वीकृति होती है
स्वयं ही सब कुछ दे देने की
भीतर के सत्य को निरावृत कर देने की
मुझे नहीं मिल पायी ;

मेरे लिए इतनी अस्वीकृति भी
जलते हुए तवे-सी असह्य है।

प्रतिनिधि मन : धुरी से उतरी मन:स्थिति

परितृप्ति की
एक अछूती परिणति तक
पहुँचते-पहुँचते
तुम्हारे एक ही वाक्य से
मेरा सारा स्वत्व टूट गया।
खण्डित अहंकार अब
अपने ही टुकड़ों से
प्रतिक्षण टकराता है,
बार-बार टकराकर
और अधिक
टूट-टूट जाता है।
पीड़ा की प्रखर धार
पीसती जा रही है
पत्थरों को
टूटता जा रहा है सारा नुकीलापन ;
रेत के कणों में झिलमिलाते हैं तारे
नदी के पाट में पूरा आकाश उतर आता है।
तुम्हें करने को निरुत्तर
मैं अपने से ही पूछता हूँ
कल्पित दुरूह से दुरूह प्रश्न
फिर स्वयं ही दे देता हूँ सहज-सा उत्तर
जैसे सारे प्रश्न
सींक के बाण हों।
इतनी बातचीत
आपस में
हम ने प्रत्यक्ष कभी की ही नहीं

जितनी इस खण्डित अवस्था में सम्भव हुई,
कैसे-कैसे संदर्भ मैं ने मन में रचे
कैसी समस्याएँ उठायीं
कितने समाधान फिर अपने आप दे लिये
जैसे मुझ में ही अन्तर्निहित हो
तुम्हारा प्रतिनिधि मन।

सोचा, बोलूँगा ही नहीं जीवन भर
फिर कुछ ही क्षणों में
प्रश्न पूछने को आतुर हो
देने लगा उत्तर स्वयं ही
—बिना कहे हुए।

पिछली एक-एक बात
रह-रह दोहराता रहा
खोजने को—
कोई तर्क-संगति
जो हो अपने पक्ष की।

जय का पराजय का,
पूरा आस्वाद मिला,
उस क्षण से अब तक की
धुरी से उतरी मनःस्थिति में
कई बार ऐसा भी लगा
जैसे हारकर जीतने को होते ही
जीतकर हारने को होता गया,
कोई भेद शेष नहीं रहा
हार-जीत में,
अपने को या तुम को
किसे श्रेय दूँ किस का ?

केवल एक आत्मालाप
मन ही मन चलता रहा।

अकेलेपन में भी
इतनी संकुलता
इस से पहले कभी
अनुभव में आयी नहीं,

खण्डित होना जैसे
पूर्णता का
पर्याय हो गया।

खण्डित व्यक्तित्व

क्षण भर में
दृष्टि वह
काट गयी
आरी की तरह
व्यक्तित्व के साबित पंजर को
बीच से,
फिर भी दोनों खण्ड
लगते रहे
ऊपर से जुड़े-जुड़े

पर यह क्या हुआ—

भीतर से असम्बद्ध
रीढ़ के टुकड़े
अकस्मात्
हवा में तैरने लगे
पानी में बहने लगे
अलग-अलग
कुछ ही देर में
सारा अपनापन
एक अपराध के
वातावरण से
भर गया।

प्र त्या व र्त न

होगा फिर वही
आँखें जब जो कहेंगी
होठों से निकलती ध्वनियाँ
उसे काटती रहेंगी ।

ग़लत प्रतिदान

मैं ने तो
सौंपा था
अपना विवेक तक
मन की तुम्हारी
सुकुमारता को
पर तुम ने
जाने क्यों
रोप दी
अपनी कठोरता
मेरे अविवेक पर।

खुले-मुँदे हम

एक यह मेरी उत्सुकता है सीधी सी
चाहती है जानना जो क्षण भर में
तुम से ही—
सारे तुम्हारे रहस्य को।

एक है तुम्हारी वह दुर्गम निगूढ़ता
जो अपने आप को
क्षण तो क्या,
युगों में भी
खोलने को प्रस्तुत नहीं।

एहसास निरर्थकता का

एक ज़रा-सी बात को
लगातार इतने समय तक
मुझ से
इस बेरहमी के साथ
छिपाये रखकर
तुम ने जो अन्याय किया है
उस की क्या सज़ा दूँ तुम्हें ?
जैसा भी हो तुम
जाओ,
दूधों नहाओ, पूतों फलो ।

पर आज के युग में,
यह दुआ भी विडम्बना बन गयी है ।

मेरी यातना, अंशतः ही सही
यदि तुम्हारी भी अनुभूति बन सकी होती
यदि तुम्हारा विश्वास
मेरे प्रति पारदर्शी हो पाता
तो तुम ऐसा स्वयं ही न करतीं ।
कह कर कुछ भी कराना
मेरी प्रकृति के प्रतिकूल है ;
निरन्तर सहज और अयत्नज
स्नेह पाना
मेरे अस्तित्व का मूल है ।
मैं जो भी कुछ हूँ, जैसा भी हूँ
उसे समझने की कोशिश न करना
मेरी पीड़ा और तुम्हारी भूल है ।
जरूर हमारे बीच
कहीं कोई ऐसी चीज़ थी

जिस के टूटने—
टूटते जाने का एहसास
हमें निरर्थक बना रहा है।

काँपते प्रश्न-चिह्न :

सही सन्दर्भ न जानने पर
या संवेदना को भीतर से
न पहचानने पर
एक गहन, पेचीदा स्थिति भी
कितनी सीधी-सपाट लग सकती है
यह तुम्हारी आँखों से ज़ाहिर है।

दरवाज़े की ओर मुड़ा हुआ
तुम्हारा खिंचा-खिंचा चेहरा,
और, जिन्हें मैं एक भारी दबाव झेलता हुआ
लगातार कहे जा रहा था
उन शब्दों से जुड़े हुए
तुम्हारे सलाहकार दुभाषिये कान,
सब साक्षी हैं—
कि चमकदार सतह
कभी-कभी कितनी भ्रामक,
कितनी निरर्थक होती है।
सच्चा अर्थ तह-ब-तह
तल को अपने में सहेजे
नीली गहराई की तरह
उस के नीचे छिपा रहता है।
ज़्यादा समझदार बनने की कोशिश में
देखता हूँ हम दोनों ही
एक दूसरे के लिए—
दो काँपते प्रश्न-चिह्न बनकर रह गये हैं।

कभी आमने-सामने
मुख-प्रतिमुख
कभी परस्पर पीठ दिये
विमुख-विमुख

हर हालत में अस्थिर, प्रकम्पित ।
कहीं कुछ खोजते से
स्वयं खोये-खोये
एक दूसरे से सभीत, सशंकित ।

निर्वासित अहम्

एक का अक्स मन में
एक का तन में
दोनों के भार को
सहती-सम्हालती
दुबली देह अनमनी ।
अपनी प्रतिच्छाया
कहीं भी नहीं,

होती तो—
ऐसे जड़ मौन से
उस क्षण तुम्हारे ही द्वारा क्यों
मुझ को निर्वासित—
कर दिया गया होता फिर ।

परिणति अँधेरे में :

मुस्कराने में
होठों के किनारे पर झुर्रियाँ उभर आती हैं ।

तुम्हारे—
न जाने कितने आँसू
बिना बहे
भीतर ही भीतर
पुतलियों से टकराकर टूट चुके हैं।

नसों में दर्द का खारा समुन्दर हिलकोरें लेता है,
सीने पर काला होता हुआ सबेरा
एक टीसता धब्बा बनकर रह गया है।

देह में पके हुए पान का पीलापन,
एक दूसरे को खींचती हुई—
बीमार धड़कनें,
पसलियों तक को दुखाती,
बुरी तरह झटका देकर आती हुई
हि च कि याँ,
चिराग़ जैसे अब बुझा, तब बुझा।

मैं अभी से अँधेरे में परिणत होने लगा हूँ
ऐसा अँधेरा—जो आँखों को कोयला कर देता है
और मन को एक मुट्ठी राख से भर देता है।

तुम मेरी ओर इस तरह मत देखो!
(हो सके तो अपनी ओर भी देखो)

सम्मिलित सृष्टि

अच्छा हुआ
तुम्हारी समस्या
प्रकृति ने सुलझा दी,
पर मेरी समस्या का समाधान
उस के पास भी नहीं है।

मैं कृतिकार हूँ
'प्रकृति' नहीं,
'कृति' ही मेरे हर प्रश्न का उत्तर है।

जिस भार का संवहन
तुम कर रही हो
वह तुम्हारी कृति है
मेरी नहीं।
यह पंक्तियाँ जो मैं लिख रहा हूँ
मेरी कृति हैं,
तुम्हारी नहीं।

हमारी कृति
सम्मिलित सृष्टि
एकात्म रचना
जो दोनों के अस्तित्व को
एक अन्तहीन चुम्बन बना दे
शायद इस जीवन में
अब
सम्भव नहीं है।

मन:सृष्टि

सब कुछ कुशल से हो गया
तनिक भी दुखी होने का
सुख नहीं पा सका
केवल सुखी होने का
दुःख झेलता रहा।

कहने को सुख-दुख के
दो ही हैं तन्तु
किन्तु अनुरंजित मानव-मन
उन में ही अपने को उलझाकर
क्रम से, व्यतिक्रम से

रचता है अनगिन बुनावटें
बूटे-फूल।

ताज़े फूल की शाम

विदा की मुद्रा में
शैया से उठा हुआ एक हाथ
बार-बार
हिलता-लहराता रहा।

उफनाते वक्ष के पास
ताज़ा खिला फूल
पंखुरियाँ खोल
कुनमुनाता रहा।

उन्हीं पंखुरियों से
उठते रंग-ज्वार में
डूब गयी शाम,
बड़ी देर
खिड़की से देखा हुआ दृश्य
याद आता रहा।

धार और रेत : नया अनुपात

अपनी कृति को
मेरे पैरों पर डालकर
क्षमा माँगने का तुम्हारा तरीक़ा
मुझे बहुत अजब लगा,

अपने अपराध की गुरुता का
यह निदान,
लगता है तुम ने—
पहले से ही सोच रक्खा था।

मन का सत्य
इतनी नाटकीयता से व्यक्त क्यों हो ?
'क्यों किया तुम ने ऐसा ?'
मैं लगातार पूछता रहूँगा
जब तक सही उत्तर तुम से मिल नहीं जाता।

मैं ने जितना, जो कुछ कहा,
तुम्हारे कवच के आगे
सब व्यर्थ रहा।

इतना ही लगा कि तुम ने भी
बहुत कुछ सहा,
जो मेरी तरह आवेश भरे
शब्दों से नहीं कहा।

हम पूर्व स्थिति में पहुँचे,
पर कहाँ पहुँच सके।
एक ही आघात से जैसे
हमारे व्यक्तित्व
बिलकुल गुट्ठल हो चुके थे।
उस दिन के स्पर्शों से
धार की तेज़ी के साथ
कगार की ढहती हुई रेत का भी अनुभव हुआ ;
धार कम, रेत ज़्यादा।

केर-बेर

फिर वही
फिर वही
पाँवों पर हाथ।

फिर वही
फिर वही
केर का, बेर का साथ।

स्नेह की प्रगाढ़ गहराई जिन्हें
और बना देती है काला-स्याह
उन दो पुतलियों की
किसी को मिलेगी थाह!

होगा फिर वही
आँखें जब जो कहेंगी,
होठों से निकली ध्वनियाँ
उसे काटती रहेंगी।

फिर बहेगी तीखी
सीत की बयार,
और पैनी होंगी फिर
काँटों की धार।

इसी तरह
चिथड़ा हो जायेंगे
केले के पात।
इसी तरह
डोलते रहेंगे
झरबेरी के गात!

आँधी-पानी के बाद

महीनों-महीनों
पसलियों से टकराती हुई आँधी
अकस्मात् तुम्हें सामने पाकर
पानी बन गयी ।

मेज़ पर टिकी कोहनियों के सहारे बहती
उन बूँदों ने मुझे तो डुबाया ही
उन की विवशता की गहराई में
तुम भी डूब गये ।

कुछ देर के लिए ही सही
झंझावात आया और अपना काम कर गया
सूखी खंखड़ लगनेवाली धरती को
भीतर तक इतना भिगो दिया उस ने
कि वह अपने ताप से स्वयं ही पसीज उठी ।
एक सोंधी गन्ध
हमारे अन्दर
लपकते हुए कौंधे की रोशनी बनकर
फैल गयी ।

कँटीली टहनियों-सी
ऐंठ-ऐंठकर
एक दूसरे से टकराती हुईं मेरी उँगलियाँ
साक्षी हैं कि टूटते-टूटते
कहीं कुछ जुड़ गया है,
काँपते-कलपते होठों की तरह ।
पर कहीं मुझे
थोड़ा अफ़सोस भी है
कि मैं क्यों इतना उघर गया
तुम्हारे या अपने सामने ।

अनुभव अतुलनीय

एकात्मकता के उन क्षणों में
तुम्हारी बाँहें अधिक कसी थीं
या मेरी,
आस्वादन की उस सतह पर
तुम्हारे होठ क्या ज़्यादा जुड़े थे
या मेरे,
प्रवाहों के उद्दाम संवेग में
नसों के भीतर
तुम्हारा रक्त तेज़ बह रहा था
या मेरा,
किसे मालूम ?
चेतना की प्रगाढ़ अन्विति
अपनी लय में
तुलना को बहुत पीछे छोड़ जाती है।
मैं तुम से
यानी अपने से
पूछता हूँ—
क्यों प्रत्येक गहरा अनुभव
निजी सीमा पर पहुँचते ही
शब्दातीत होने लगता है ?
मंजिल पर पहुँचने से पहले ही
अभिव्यक्ति के बोझ से—
भाषा का पंजर
क्यों चरमराने लगता है ?
थोड़े से दबाव से ही
हाथों में हड्डियाँ कैसे छू जाती हैं ?
कहाँ चली जाती हैं सारी मांसलता,
अनुभूति की ?

काँटे मन-फूल के

काँटे, काँटे, काँटे,
आये मेरे बाँटे।

मन-फूल

तुम्हारे मन का असली ढलान
गुलाब का फूल है,
मैं नहीं हूँ।
व्यर्थ ही सोचा किया अब तक
तुम्हारे भीतर-बाहर, यहाँ-वहाँ
देह की, आत्मा की पर्तों में
मैं ही सब कहीं हूँ।

सत्य को सामने आना ही था।
पानी में उतरा तो,
तल तक जाना ही था।

देख लिया अन्तरंग आँखों ने—
तुम्हारे मन का पहला उफान
गुलाब का फूल है,
मैं नहीं हूँ।
उसी के राग से—
तुम्हारा रूप रंजित है।
उसी की गन्ध से—
तुम्हारी श्वास व्यंजित है।
तुम्हारी दृष्टि की मृदुता
मेरी नहीं,
उसी की देन है।
तुम्हारे मन का रचना-विधान
गुलाब का फूल है
मैं नहीं हूँ।

तुम ने मुझे
अपनी सहयात्रा में साथ लिया,

अतिशय कृतज्ञ हूँ,
इस कृपा-भार से
मेरा शीश
झुका ही रहेगा सदा।
काँटे, काँटे, काँटे,
आये मेरे बाँटे,
पाया मैं ने उतना,
जितना था मुझे वदा।
यात्रा के अन्त में
अनुभव बस यही हुआ
जहाँ से चला था मैं,
आज भी, वहीं का वहीं हूँ।
तुम्हारे मन का अन्तिम निदान
गुलाब का फूल है
मैं नहीं हूँ।

प्रवाहित कोमलता

तुम ने नदी में पाँव डालकर
और लहरों में हथेलियाँ डुबाकर
जो गुलाब तैराये
वे पंखुरी-पंखुरी होकर
मेरे चारो ओर घिर आये हैं।
कोमलता
इतनी अनेकता
और इतनी तरलता के साथ
मुझे कभी नहीं मिली।
पर
मन में अब भी—
पंखुरियों के साथ बहकर आया हुआ
एक काँटा चुभता है,

क्या यह सारे फूल मेरे लिए,
मेरे ही लिए, बहाये गये थे ?

तुम ने इन्हें
प्रवाह को तो अर्पित नहीं किया था ?
समर्पण का आधार होने की जगह
मैं तुम्हारे मार्ग की बाधा तो नहीं हूँ ?
यदि तुम्हारे गुलाबों में
सौरभ की जगह शब्द होते
तो सम्भव था,
मुझे अपनी शंका का
कोई समाधान मिल जाता,
पर शब्द भी तो कम भ्रामक नहीं होते ।

स्वगत स्वाभिमान

अवांच्छित मैं
तुम्हारे पास तो क्या
शिला के पास भी नहीं रुकूँगा ।
प्रवंचित मैं
ऐसा अद्वितीय
अनुभव पाकर भी
दाता के प्रति अपने
कृतज्ञ ही रहूँगा ।
उसे दोष नहीं दूँगा ।

एक स्वाभिमान ही तो है
जो मुझ को
धिक्कारता है बार-बार—
'कहाँ रख दिया पाँव
ठाँव-कुठाँव
जाने-बूझे बिना ।

भोगो अब अपने किये का फल
स्नेह के नाम पर सहो अपमान, छल
जितना भी सहा जाय।
कब तक कहोगे व्यर्थ
बिना आमन्त्रण मैं गया नहीं,
कब तक भटकते रहोगे
इस झूठी आत्मीयता के मोह में।'

लो मैं तुम्हें
यह स्वगत स्वाभिमान भी देता हूँ
न रुचे फेंक देना चाहे जहाँ
मुझे लौटाना मत।
देकर—
अपने दिये को फिर
वापस क्या लेना।

बादलों से परे

यह हवा इतनी तेज़ है
फिर भी इस ने
पत्तियों जैसे हमारे होठ
उड़ाकर एक नहीं किये।

यह बौछार इतनी तीखी है
फिर भी इसे सहने को
हम ने एक दूसरे की बाँहों का
सहारा अब तक नहीं लिया।

यह बरसात
बरसात होकर भी कुछ न हुई,
अगर हमारे मन
गीले-सोंधे न हुए।

किसी उदास साये में
अपना-अपना अहंकार लिये
हम जहाँ के तहाँ धरे रहेंगे
मिट्टी के ढोकों की तरह।

बादल हमारे ऊपर से गुज़र जायेंगे,
और हम एक बूँद भी नहीं पा सकेंगे उन से।

दूसरा ही होता है—
बादलों के प्रति खुले रहने
या, धार के साथ उन्मुक्त बहने
का सुख।
लगता है कहीं कुछ ऐसा टूट गया है
जिसे अब सुधारा नहीं जा सकता।
भरी बाढ़ में कहीं कोई यों डूब गया है
कि जाल के सहारे भी,
उबारा नहीं जा सकता।

पराजित मनःस्थिति

मैं तुम्हें पंक से खींच कर
पंकज की ऊँचाई तक नहीं पहुँचा सका
मैं तुम्हें ताज़ी ओस की तरह
निर्मल नहीं बना सका।

हर बार मेरा मोह, मेरा अहंकार
बीच में आता रहा
मुझे भीतर ही भीतर
नोंचता-खाता रहा
अब मेरे प्यार का पंजर खोखला हो गया है
मेरा स्नेह-संकल्प थककर सो गया है।

तुम मुझ पर एक ही एहसान कर सकती हो
सोये हुए को दुबारा जगाने की कोशिश मत करना
जहाँ मैं तुम्हें तो क्या
अपने को ही पहचानना भूल जाऊँ
मेरे इतने क़रीब आने की कोशिश मत करना।

मुझ से तुम्हें कुछ भी कहने की ज़रूरत नहीं,
मैं स्वयं अपनी हार माने लेता हूँ।

अधूरा मन

जैसे संस्पर्शों ने देह को
ऊपर से नीचे तक भर दिया
वैसे ही निजता ने बाहर से भीतर तक
आत्मा को पूरा,

किन्तु इन दोनों के बीच में
कभी परितृप्त हो
कभी परितप्त हो
अपने संकल्पों-विकल्पों में उलझा हुआ
दुविधा से सना मन
रह गया अधूरा का अधूरा।

सन्दर्भहीन ?

एक सन्दर्भ ने
मेरे अस्तित्व को
अटूट आकाश से जोड़ दिया।

एक सन्दर्भ ने
मुट्ठी में कसकर
मुझे जड़ से मरोड़ दिया,

एक सन्दर्भ ने
आत्मा की सारी पारदर्शिता को
शीशे-सा तोड़ दिया।

मेरे भीतर के
किसी एक प्रज्ञावान अंश ने
गति की निरर्थकता से ऊबकर

या यों कहूँ
जीवन की सुस्थिर गहराई में डूबकर
चुपचाप निर्णय लिया
और इन बिखरे सन्दर्भों में जीना छोड़ दिया।

भीतरी दूरियाँ

दूरियाँ जो
व्यक्तित्वों के पास आने पर
अनुभव में आती हैं
कभी-कभी,
नुकीलेपन के सीधे टकराव से
उभरकर
और भी उजागर हो जाती हैं।
बिना व्यक्तित्व को तोड़े
उन से उपजे शून्य को
भर पाना
प्रायः असम्भव ही होता है।

जब कोई चील
पंख फैलाये
उस खालीपन से गुज़रती है,
अपनेआप
पैरों के नीचे से
धरती—
खिसकने लग जाती है।

मान भी, अपमान भी

स्पृहा रखने से
कहीं अधिक
दुष्कर है
निस्पृह होना;
कठिन है—
उमड़े हुए आँसुओं का
रोकना
सहज है रोना।

उल्कापात

कभी तुम्हारे शब्दों को तौलता हूँ
कभी अपनी अनुभूति को
जब दोनों किसी बिन्दु पर
मिलते दिखाई नहीं देते
तो असह्य ताप से भर जाता हूँ
जिस से अब्र कोई निस्तार नहीं लगता।
पैरों के नीचे की ठोस धरती
एकदम खाली जगह बन जाती है
और मैं शून्य में प्रज्वलित उल्का-पिण्ड की तरह
टूटकर बिखरने और बुझने तक
नीचे की ओर गिरता ही चला जाता हूँ।

भस्म-शेष

जब भी कभी
ऐसा होता है
कि तुम्हारा कहा
मेरी अन्तरात्मा के कहे से
मेल नहीं खाता
तो मेरा मन भीतर ही भीतर
चक्की के भारी खुरदरे पाटों में आकर
गेहूँ के निरीह दाने की तरह पिसने लगता है ;
ठण्डे पड़े ज्वालामुखी-सा
अकस्मात् धधककर लावा रिसने लगता है।
तुम्हारी बात को ग़लत समझूँ भी तो कैसे ?

अपने अन्तर की आवाज़ का
कोई भी निषेध कर पाया है
कि मैं ही करूँ ?

एक ही समाधान सम्भव दिखता है
कि तुम मान लो, तुम ने झूठ कहा था
पर अगर तुम्हारे भीतर की आवाज़ भी
इसे स्वीकार नहीं करती
तो फिर हम दोनों ही मान लें
कि हमारी आत्मीयता झूठी थी,
झूठी है, और कभी सच नहीं हो सकती।

जो धुरी हमें साधे थी,
जो आग हमें बाँधे थी,
टूट चुकी है, बुझ चुकी है;
अटूट जड़ता के बीच
अब केवल निस्वाद भस्म-शेष है।

नि:शेष

व्यस्त हूँ इतना
अपने–
अनियन्त्रित
मन से उलझने में।
हो गया हूँ अक्षम,
तुम्हारे दु:ख को,
सुख को समझने में।
मेरे-तुम्हारे बीच
ऐसा कुछ नहीं बचा
जिस का—
अब मुझ को अभिमान हो।

वह भी क्या स्नेह, जो—
अपनी ही दृष्टि में
अपना अपमान हो।

मुक्ति और तुम से

अब मुक्ति की कामना
मन में होगी भी
तो तुम से नहीं माँगूँगा
अपनी इच्छा को जलाकर राख कर दूँगा
पर तुम्हारे आगे हाथ नहीं फैलाऊँगा।

अपने स्वाभिमान को
एक बुझे हुए दिये-सा
हर किसी की चौखट पर रख आना
मुझे मंजूर नहीं है
क्योंकि ठोकर से—
अलग कर दिया जाना ही उस की नियति है।
कातरता, रिरियाहट
मेरे स्वभाव के प्रतिकूल है
कुछ भी ऐसा मूल्यवान् नहीं है
जिस के लिए मैं—
याचक बनकर गिड़गिड़ाता फिरूँ
अगर आदमी में, जीवन में
सचमुच ही कुछ महत्त्वपूर्ण है
तो वह मेरे भीतर भी होगा ही
उसे पहले स्वयं में ही क्यों न खोजूँ
अपने को ही क्यों न पहचानूँ
यातना और शान्ति
दोनों का स्रोत
स्वयं को ही क्यों न मानूँ।
(पर तुम मानने दो तब न!)

पुरुष-पटु

तुम्हें .ख़ूब आता है
पुरुष को
स्वीकारना
नकारना
दुतकारना
और फिर
मनुहारना
दुलारना
पुचकारना,
केवल मुझे ही नहीं आता है
सारे अपमानों को भूल कर
पूँछ हिलाना
दाँत चियारना।

बदला, एक चिड़िया से

जी चाहता है
तुम्हारे दोनों कन्धे
ज़ोर से पकड़ कर
तुम्हें झकझोरते हुए
आँखों के भीतर तक झाँक कर पूछूँ—
'पिछले जनम में
मैं ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ?
इस ज़िन्दगी में तुम
मुझ से कौन-सा बदला ले रही हो ?'
पर देखता हूँ—तुम नहीं

मेरी प्रश्नाकुल मुद्रा ही
मेरे सामने खड़ी है,
मैं उसी के कन्धे
बार-बार झकझोर रहा हूँ
और हर झटका मुझे मुक्ति से
दूर करता जा रहा है।
अपने पीछे छोड़ता हुआ
एक चील का पंजा
निरीह चिड़िया को
दबोचे हुए।

आँच के बिना

कुछ चीज़ें इतने पास आ जाती हैं
कि उन के दुर्लभ होने का तो क्या
सुलभ होने तक का एहसास नहीं होता।

यों, दुर्लभता की आँच खो जाने पर
हर वस्तु राख-सी ठण्ढी पड़ जाती है।

यही वह आकर्षक दूरी है
जो अपने को मिटाने की प्रेरणा स्वयं देती है
पर मिटाये मिटती नहीं,
और अगर कभी मिट गयी
तो सब कुछ अनाकर्षक
मूल्यहीन
निष्प्रेरक लगने लगता है।
कहीं कुछ भी शेष नहीं बचता
एक दूसरे के बीच
देने या पाने के लिए।
मैं ने अपने को
तुम्हें बहुत सुलभ बना दिया है

और अब ठीक ही अनुभव कर रहा हूँ
कि तुम्हारे लिए मैं राख की ढेरी बन गया हूँ।

भारी पारदर्शी सिल्लियों के नीचे दबी हुई
वासना की मुर्दा देह
बर्फ़ के गलने की बाट जोहती है।

कई बार ऐसा लगा
जैसे उस ने छटपटाकर दोनों हाथों से
धरती और आकाश को, एक साथ थाम लिया हो
हवा और पानी को मुट्ठियों में कसकर बाँध लिया हो
पर जो आग बुझ चुकी थी
वह उसे दुबारा नहीं मिल सकी ;
नहीं मिल सकी।
आँच भी दुर्लभ हो गयी
दुर्लभता की आँच की तरह,
पर मैं पूछता हूँ—
क्या मेरी ऐसी ही परिणति
तुम्हें अभीष्ट थी ?

सीमातीत अपमान

मत कहो कि इस से बढ़कर
तुम्हारा अपमान नहीं हो सकता
या कि तुम उसे सह नहीं सकते।
अपने भीतर झाँककर देखो—
तुम नाली के कीड़े हो चुके हो,
तुम्हारी सहन-शक्ति
हर बढ़ते हुए अपमान से
बड़ी सिद्ध होती है।
तुम ने अपने को
किस जगह पहुँचा दिया है ?

शायद वहाँ,
जहाँ से अब तुम्हारा कोई संकल्प
तुम्हें उबार नहीं सकता।
किस ने तुम्हारा वह अहंकार
चूस कर,
सामने तुम्हारे ही
धरती पर फेंक दिया है ?

किस का इशारा पा
वासना के
कुत्ते शिकारी कई
एक साथ झपट पड़े ?
अब जब वे
उस चूसी हड्डी के टुकड़ों को
पंजों में दाबकर
टेढ़े मुँह, दाँत पैनाते हैं,
खौल उठने की जगह
जमने क्यों लगता है
बोलो ! तुम्हारा खून ?

कीड़ा—मैं

कपड़े पर चढ़ते कीड़े को
जैसे कोई
अँगूठे पर तनी
तर्जनी से झटक दे
और वह सामने,
दायें या वायें, कहीं भी
दूर जा गिरे—उत्तान
आकाश में निरर्थक पाँव फेंकता
घिसटता धरती पर
बेबस पंख फड़फड़ाता

पर उलट नहीं पाता,
किसी भी पैर के नीचे
कुचल जाने को आतुर ज्यों,
बे—चा—रा ।

मैं क्यों देखता हूँ
उस में अपनी प्रतिच्छाया
क्यों पाता हूँ
उस की निरीह छाया
अपने में ।

इतना क्षुद्र भी
हो सकता है,
मेरा पौरुष !
मेरा स्वाभिमान !

इस बार भी

तरह-तरह के
काम-काज में
अपने को खोये रहकर
मन ही मन सब सहा,

पर जब
न चाहने पर भी
अकस्मात्
आँख से कुछ बहा,

तो समझा,
तुम से अपने को
अलग करने में
मैं इस बार भी
कितना असफल रहा ।

अपमानित प्यार

बहुत अपमान कर लिया है मेरा, अब थोड़ा प्यार भी कर लो।
ऐसा नहीं है कि मैं
अपमान का बदला लेना नहीं जानता
पर कोई दुश्मन हो तो वार करूँ,
तुम पर क्या हथियार उठाऊँ,
तुम हारे भी तो मैं ही हारूँगा
और जीते, तो क्या वह जीत मेरी नहीं होगी ?

तुम मेरी हार को अपनी हार चाहे न भी मानो
मैं तुम्हारी जीत को अपनी जीत मानता हूँ।
मुझे तुम जो भी समझो
अपने से अलग मैं तुम्हें कहाँ जानता हूँ ?
तुम्हारी नज़र में तो मैं आखिर नगण्य बन ही चुका हूँ
मुझे नकारने के लिए ही सही, तनिक मनुहार भी कर लो।
बहुत अपमान कर लिया है मेरा, अब थोड़ा प्यार भी कर लो।

अब मुझे भरोसा नहीं रहा
कि तुम मेरे भीतर हुए हिमपात को
समझ भी पाओगी या नहीं,
मेरा रक्त जमने लगा है
और मेरी हड्डियाँ गलती जा रही हैं,
लेकिन इस ठिठुरन को और कहूँ भी तो किस से,
बाँहों में लेकर मुझे अपने वक्ष की ऊष्मा से भर लो।
बहुत अपमान कर लिया है मेरा, अब थोड़ा प्यार भी कर लो।
लो मैं तुम्हारे एकदम सामने आ गया हूँ,
अब तुम्हें जितना अपमानित कर मिले, कर लो
मैं ने अपनी वृत्ति को वहाँ से बिलकुल खींच लिया है
जहाँ तक अवमानना का विषाद पहुँचता है।

छिद-छिदकर मैं एक बाँसुरी बन गया हूँ, मुझे होठों पर धर लो।
बहुत अपमान कर लिया है मेरा, अब थोड़ा प्यार भी कर लो।

देहात्म सत्य

तुम में
मुझे पाने की अभिलाषा नहीं है,
औरों की तरह
केवल मुझ से खेलने की इच्छा है।
किसी को पाने का रास्ता
निरन्तर अपने को देने की राह से
एकदम अलग नहीं होता।
समर्पण में तन और मन का भेद करना
कृपणता है या आत्मप्रवंचना,
दोनों ही चीज़ें उस की गरिमा को झुठलाती हैं।
कहाँ दिया है तुम ने
पूरी तरह उँडेलकर
अपने स्वत्व को मुझे?
अपने व्यक्तित्व की समग्रता पर
जब तुम्हारा अपना ही अधिकार नहीं है
तो तुम मुझे क्या दे पाओगी?
यदि देह को प्राण से अलग कर पाना
सचमुच सम्भव होता
तो पैर में काँटा चुभने का दर्द
झूठा सिद्ध हो जाता।
नक्षत्रों पर पाँव रखकर भी
आदमी धरती पर वापस लौट आता है
आत्मीयता की तलाश में,
पर वैसी विभाजित आत्मीयता नहीं
जैसी तम से मुझे अब मिल रही है।

वर्जनाओं से कुण्ठित स्नेह
व्यक्तित्व को खिलाता नहीं
मार कर सुला देता है
जैसे वह कोई बच्चा हो।

धार का व्यक्तित्व

अब तो कुछ बात करने को भी नहीं रह गया।
एक ढुलके हुए गिलास को
सीधा कर देने पर भी
गिरा हुआ पानी
उस में वापस नहीं आ जायेगा।

जलती हुई रेत
नदी को भीतर ही भीतर सोख गयी है
और अब वह भी
गिलास से गिरे हुए पानी की तरह
नामालूम हो रही है
शेष रह गया है—सूखी धरती पर
गीलेपन का
सिर्फ़ एक धब्बा
सिर्फ़ एक लकीर।
उस से क्या बात की जा सकती है,
और किस की बात,
और क्यों ?

आसान नहीं है
ज़मीन पर गिरे हुए पानी को
फिर उसी रूप में सहेज पाना।
या तो वह मिट्टी के पाँवों में लग कर मैला हो जाता है
या बादल की आँखों में समाकर निर्मल।
धार का व्यक्तित्व
मलिनता और निर्मलता दोनों से परे है

वह एक लय है, वह एक संगीत है।
उस के आगे भविष्य है, उस के पीछे अतीत है।
व्यक्ति को व्यक्ति के पास लाने के लिए
गतिशील प्यार चाहिए।
कुछ गहरी बात करने के लिए
ढरका हुआ जल नहीं,
बहती हुई धार चाहिए।

बात और नहीं बात

तुम ने एक तेवर के साथ
मुझ पर शब्द-शब्द से आघात करते हुए
पूछा था—'आप को मुझ से क्या बात करनी है ?'
और मैं ने तत्काल अनुभव किया
कि सचमुच मुझे
किसी तरह की कोई बात
नहीं करनी है,
तुम से।
मुझ को यह भी लगा कि अब तक
तुम से जो भी बातें हुई हैं
वह सब निरर्थक थीं
और एक ग़लत व्यक्ति से हुई थीं।
शायद तुम्हें अपने कहे पर
कोई अफ़सोस नहीं है
और अब मुझे भी,........ऐसा सोचने पर।
हमारी अनुभूति सिर्फ़ एक चुहिया थी
जो दराज़ में फँसकर मर गयी,
चलो अच्छा हुआ !
बदबू से बचने के लिए
इसे बाहर फेंक देना ज़रूरी है
आओ ! और कुछ न सही

इसी काम में मेरी मदद करो,
मरी हुई अनुभूति को ढोने का काम
मुझे नहीं आता।

नकारती लौ

अन्ततः तुम्हीं ने
मुझ से बात की।
मोम-सी पिघल गयी
गाँठ आघात की।

पंख की तरह
बहुत हलका हो गया मन
नन्हीं-सी लौ ने
नकार दी,
महाकाश तक फैली
अँधियारी
रात की।

असंगति-विसंगति

'तुम मुझे कुछ नहीं समझते ?'
'तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं है ?'
हर मानसिक संघर्ष के मूल में
प्रश्नों की यही गाँठ सभी कहीं है ।

■

रक्त-लिपि

जब मुझे
एक के बाद एक
तीखे से तीखे
और गहरे से गहरे
आघात सहने पड़े

जब मेरी बाँहों को
तुम्हारी ज़रूरत
सब से ज़्यादा महसूस हुई

तभी मैं ने अपने प्रति तिरस्कार,
भय, शंका और अविश्वास से भरा
तुम्हारा वह घिनौना रूप देखा
जो मेरे लिए—
सर्वथा अकल्पनीय था।

मुझे आक्रामक समझ कर
आत्मरक्षा के दावँ-पेंच खेलने में
तुम्हें शर्म क्यों नहीं आयी ?

हर घाव से बहते हुए रक्त ने
धरती पर तुम्हारा ही नाम लिखा
पर वह लिपि
अब तुम्हें बिसर गयी है,
वे सारे अक्षर
अनपहचाने हो गये हैं।

तुम्हारी दृष्टि की चिकनाहट
तुम्हारे पैरों की आहट

मैं अपनी इस निरीह दशा में भी
देखता हूँ, सुनता हूँ
अकेलेपन में, उलझे हुए तारों को
बार-बार उधेड़ता हूँ, बुनता हूँ।

आँखें मरीचिमयी

धूप से तपती रेत में
पानी की प्रवंचना बहाती हुई
मृगों को भटकाकर—
मारने की कला में पारंगत
मोहक मरीचिका
लगता है विधि ने
जन्मते ही आँज दी थी
तुम्हारी आँखों में।

तभी तो उन में—
इतनी झलमल तरलता है,
कान्ति है।

प्यास से कातर हो
उन्हें मेघ-मेदुर आकाश या
दीप्त देव-सरिता समझना
मेरी ही भ्रान्ति है।

तुम्हें नहीं मालूम

मैं कितने बड़े मानसिक परिवर्तन से गुज़र रहा हूँ,
तुम्हें नहीं मालूम ।
मैं क्या था और क्या होकर बिखर रहा हूँ,
तुम्हें नहीं मालूम ।

तुम्हें शायद यह भी पता नहीं
कि आदमी जिस से बहुत दूर जाना चाहता है
उस के सब से क़रीब होता है;
और नाउम्मीदी में डूबा हुआ इन्सान
कुछ लमहों में, बेहद ग़रीब होता है ।

खाईं का अनुभव

अपनी मुट्ठी खोलकर देखो
नाखूनों से पालिश अपने आप उतर सकती है
हथेली की गहराई में लाली सूरज की तरह डूब सकती है
पर अंगों के वे संस्पर्श
जिन्होंने उँगलियों में बहनेवाले रक्त को
एक विश्वासपूर्ण सच्ची गरमाहट दी थी
भुला सकना शायद तुम्हारे बस की बात नहीं है ।

कह दो कि 'आप बहुत अच्छा प्यार करते हैं ।'
यह वाक्य तुम्हारा नहीं है,
कह दो कि मेरी बाँहों में पूरी तरह समर्पित होते हुए
तुम ने इसे नहीं कहा था

युग्म

कह दो कि फिर तुम्हीं ने यह
सवाल नहीं उठाया था—
'कैसा प्यार करना चाहते हो ?'
बाहरी रंग अपने आप मर जाता है,
भीतरी रंग को मारने में हत्या लगती है।

देह और आत्मा का बँटवारा
अनुभव के बिन्दु पर,
कायर प्रवंचना है।
मेरा हठ तुम्हारे उस व्यक्तित्व को पाने का है
जो इस कृत्रिम द्वन्द्व से रहित हो।

पाप वह नहीं है जो हमने किया,
पाप वह है जो हम नहीं कर सके।

हम आपस में एक दूसरे की नज़र से गिर न जायँ
इसलिए हमें विमुख हो जाना चाहिए
उस खाईं से जो हमारे बीच बराबर आ जाती है
और जिसे भरने का हमारे पास अब कोई उपाय शेष नहीं है।

धधकती हुई आत्मग्लानि के शिकंजे से
स्वयं छुटकारा पाने के लिए
मैं तुम्हें एकदम मुक्त करता हूँ
हर प्रकार के बन्धन से।
अल्विदा !

मेरा अपराध, मेरा कलुष

क्या यह सच नहीं है
कि तुम्हारे मन में
मेरे सम्पर्क से कलुषित हो जाने का भय
गहराई तक व्याप्त हो गया है।

क्या यह सत्य नहीं है
कि तुम्हारी अन्तरात्मा का प्रवाह
अब उस ओर बहने लगा है
जिससे ईर्ष्या करना मेरे लिए हास्यास्पद है ?

और क्या यह भी सही नहीं है
कि मेरी और तुम्हारी प्रवृत्ति
अब वैसी सहज नहीं रही है
जैसी अपने समुद्री दुर्ग तक
मेरा आवाहन करते समय थी ।

तब, तुम्हारे लिए मैं
बराबर निरर्थक होता जा रहा हूँ
या कि हो चुका हूँ
इस परिणाम पर तुम्हें आपत्ति क्यों हो ?

पर जाओ अपनी ओर से मैं तुम्हें
पूरी तरह निरपराध माने लेता हूँ;
निष्कलुष,
तुम नहीं तो भला और कौन होगा !

सारा अपराध मेरा है,
और सब से अधिक कलुषित भी मैं ही हूँ ।
अब तो प्रसन्न हो ?

रक्षा-कवच

लगता है तुम्हें
मुझ पर तो क्या
स्वयं अपने पर भी विश्वास नहीं है,
इसी लिए अपने चारों ओर
चादर की तरह

इतनी भीड़ लपेटे रहती हो
कि कभी कोई बात हो न हो सके।
तुम्हारी यह अतिरिक्त सजगता
आत्मरक्षा नहीं
आत्मवंचना है।

जानती हो
पागल कुत्ता दूसरों के मुँह मारता है
पर अविश्वासी व्यक्ति
भीतर-भीतर अपने को ही खाता है।

मेरी जिस इच्छा से तुम शंकित हो
क्या वह तुम्हारी इच्छा नहीं है ?
क्या सम्पृक्ति के क्षण
उस के साक्षी नहीं हैं ?

तब यह मुखौटा,
यह झूठा कवच,
किस लिए, कब तक ?

एक दिन तुम्हीं
इसे ऊबकर उतार फेंकोगी ;
पर सम्भव है उस समय तक
अपनी पहचान खोकर
मैं भी भीड़ में शामिल हो जाऊँ
और दूसरों से अपनी रक्षा करने में
तुम्हारे काम आऊँ।

भय का बिन्दु

इस बार
तुम ने मुझे
जिस जगह रोक दिया

वहाँ शायद कोई भी स्त्री
किसी पुरुष को नहीं रोकती।
कितना भयानक होता है
वह भय जो उपजता है
उत्तेजना के अन्तिम बिन्दु पर!

मुझे नहीं चाहिए
तुम्हारी यह कायर आसक्ति
मैं ऐसे स्नेह-प्यार पर थूकता हूँ।

राग नहीं, रोग

एक तरह का परितोष होता है
दृष्टि साधकर
प्यासे की अंजलि में—
जल की धार डालते हुए
उसे पूरी तरह परितृप्त करने में;

और एक दूसरी तरह का परितोष होता है
प्यास से कातर व्यक्ति के सामने
पानी से लबालब शीशे का गिलास
होठों के पास ले जाकर
फिर सहसा फ़र्श पर गिराकर
यों चूर-चूर कर देने में
कि प्यासा एक बूँद भी न पा सके।

मैं अभी तक यह तय नहीं कर पाया हूँ
कि तुम्हें सचमुच इन दोनों में से
कौन-सा परितोष चाहिए;
पर अब लगता है कि दूसरी तरह का परितोष ही
तुम्हारी नियति है।

तुम ने भले ही न जान पाया हो
पर मैं ने उस दिन पहचान लिया
तुम्हारा मन राग से नहीं रोग से ग्रस्त है
और जैसे मैं हर रोगी के प्रति सहानुभूति रखता हूँ
तुम्हारे प्रति भी—
केवल सहानुभूति ही रख सकता हूँ।

दोषी मन

जो चीज़
मुझे तुम्हारे पास खींच ले गयी थी
देखता हूँ वही
मुझ को तुम से इतना दूर ले आयी है
कि विश्वास नहीं होता
उस पर या अपने पर।

हर कारण
अन्ततः मन का ही प्रतिबिम्ब होता है,
तरंग की तरह—
जल से ही उठता है
जल में ही सोता है।

जिस से मन उपजा है
वह मूल कारण अब भी अज्ञात है,
इसी लिए अपने सिवा तुम्हें
या किसी और को
दोष देना
व्यर्थ की बात है।

विश्वास की नींवें

जड़ से—
हिल गयी हैं,
गहरी नींवें विश्वास की ;
आँख से ओझल हो चुके हैं
कल्पना के स्वर्ण-शिखर रंगारंग।

एक दूसरे के लिए
आन्तरिक प्रगाढ़ सम्मान का
जो अकलुष मन्दिर था
वह कब का धँस गया है—
क्षुद्र आत्मरक्षा की
स्वार्थभरी कीच में।
बिना सम्मान के स्नेह,
बिना प्राण के देह।
यह तुम्हें क्या हो गया है ?
और मैं भी ऐसा क्यों होता जा रहा हूँ ?

हम स्वयं अपने शवस्थान पर
'पिरामिड' उठाकर
कभी ऊँचे नहीं उठ सकते।
हम स्वयं अपने को
'ममी' बनाकर नहीं जी सकते।

अनस्तित्व

इधर
कुछ ऐसा हो गया है

युग्म

कि मैं
तुम्हारे पास जाता हूँ
तो तकलीफ़ होती है ,
नहीं जाता हूँ
तो तकलीफ़ होती है ।
मेरे सारे अनुभव में अब—
इस बेरहम चीज़ के सिवा
और कुछ भी नहीं बचा ।

ऐसा कब होगा
जब—
इस दुनिया में
न मैं रहूँगा
न तुम
और न यह ।

शब्द-बद्ध

कितनी पूर्णिमाओं को
मैं ने ही पीठ दे दी
कितनी पूर्णिमाएँ
मुँह फेर कर चली गयीं ।

—दुनिया में बहुत कुछ हो रहा है ;
पहले चाँद
आदमी पर हावी था ,
अब आदमी
चाँद पर हावी है ।

फिर भी ,
अनबूझा ही रह गया
मानव-मन ।

शक्ति पर , विजय पर ,
अहंकार रीझता है ।
प्राणी का हृदय किन्तु
स्नेह से ही सीझता है ।

इतनी रिक्तता—मुझ में
क्यों कहाँ से आ गयी ?
छोड़कर ज्योतित नक्षत्र सब
मैं ने क्यों अपने को
अन्तहीन , महाशून्य
काले आकाश से
जोड़ लिया !

अर्थ-बोध

सोचता था
काँटे से काँटा निकालूँगा ,
लेकिन अब देखता हूँ—
तुम से विमुख होकर
मैं ने तो वही डाल काट दी
जिस पर पाँव टेके था ।

उपमा-सिद्ध कवि का
ऐसा अनुयायी उपमान ,
और वह भी मैं !

कौन-सा नया अर्थ
सूझा मुझे
उस की गुण-गाथा में ?

नरक का वरण

हमें विश्वास है कि नरक को निचोड़कर
अब भी
एक बूँद स्वर्ग टपकाया जा सकता है ।

■

नरक : तीन तर्क और एक प्रक्रिया

● हम ने स्वेच्छा से नरक का वरण किया है
क्योंकि हम स्वर्ग से ऊब चुके हैं।

● हमें विश्वास है कि नरक को निचोड़कर
अब भी,
एक बूँद स्वर्ग टपकाया जा सकता है,
इसी लिए हम ने उसे चुना है—
अपनेआप।

● हमारे समक्ष स्वर्ग और नरक
दोनों संज्ञाएँ निरर्थक हो चुकी हैं
अतः
शब्दों की अर्थहीनता
उजागर करने के लिए
और शायद अपनी भी,
हमारी निरपेक्षता ने
नरक को भी
वैसे ही अपना लिया है
जैसे कभी स्वर्ग को सहेजा था।

▲ लगता है, गन्तव्य तक पहुँचने की
हमारी प्रक्रिया एक ही है —
पर तर्क अलग-अलग।
मेरा तर्क तीसरा है
तुम्हारा ?
पहला, दूसरा या कोई अन्य ?
तुम चाहो तो,
हम अपने तर्क बदल भी सकते हैं।

क्यों न हम आज से
स्वर्ग को **नरक** और **नरक** को **स्वर्ग** कहें।
अगर तुम्हें **हम** शब्द चुभता हो
तो लाओ,
आत्मीयता के थाले में
पहले—
मैं और **मैं** को ही रोप दें।

प्रहरी-मूर्ति

एक पत्थर को
दूसरे पत्थर से मारकर
मैं ने आवाज़ सुननी चाही
ताकि खामोशी टूट सके।
भूल गया
कि दोनों के बीच की जो दूरी है
वह स्वयं मैं हूँ
और इतनी आसानी से उसे—
यानी अपने को
मिटाया नहीं जा सकता।

अब मैं उन दोनों पत्थरों को
अपने हाथों में लिये हूँ
और मेरे हाथ
उन के स्पर्श से
पत्थर हुए जा रहे हैं।
एक भारी शब्दहीनता के बीच
मेरी देह
सियाह मूरत बनती जा रही है
रोदाँ के 'नरक-द्वार' में
जड़े जाने के लिए।
मैं अब वहीं रहूँगा
एक प्रहरी की तरह।

आधारहीन

कहीं पर
बेहद गहराई में
मन यों डूबा-डूबा रहता है
जैसे काग़ज़ी हथेली पर किसी ने
लोहे के अन्तरिक्ष का—
बोझ रख दिया हो।

घबराहट, बाहरी चीज़ से नहीं,
अपनेआप में, अपने से,
अपने ही किये-अनकिये की
परिणतियाँ देखकर उपजे तो
अनुभव का
सचमुच एक नया द्वार
खोलती है।

द्वार, जिस में मैं कभी
न आया, न गया
क्योंकि रोशनी
उस के बाहर ही है,
भीतर अथाह अन्धकार
जिस की सघनता से छनकर
आवाज़ तक न आ सके,
साँस तक न जा सके—
जिस के पार।
क्या कहूँ किसी से मैं
जब अपने से ही
कुछ कहना असम्भव है।
हरे अतल जल में
एक काई भरे ठीकरे-सा

निराधार
नीचे, और नीचे,
और नीचे
उतरता चला जाता हूँ
कब तक ?
कहाँ तक ?
कुछ पता नहीं।

बाँध का ठहराव

आँखों के पीछे—झील में
न जाने कितना जल संचित है,
बँधी हुई नदी के प्रवाह का
पूरा भार
टिका है, बारीक शिराओं पर।
रुकी हुई धार—
असह्य, अपार।

एक तीखी कड़ुवाहट
पलकों में भीतर तक भर गयी है
ताँत की तरह खिंची-खिंची नसें
छूते ही बजने को आ रही हैं।
दर्द से—तपकती हुई कनपटियाँ
फट जाना चाहती हैं, दोनों ओर।

दृष्टि अपने में कहीं ऐसी डूब गया है
कि उस का देखना
देखना ही नहीं रह गया है।

केवल है एक ठहराव —
महानाश का उद्घोषक
सदा जो बाँध के टूटने से पहले उपजता है,

और उसे दरकाकर, तोड़कर,
स्वयं टूट जाता है।

यातना और दाह

चोटों ने
देह और मन को एक कर दिया है;
एक बहुत बड़ी खाईं को
पीड़ा, यातना, दंश और दाह से
भर दिया है।
तुम्हें हर चोट दिखाऊँ
हाथ में हाथ लेकर महसूस कराऊँ
अब इस की भी ज़रूरत नहीं रह गयी है;
मेरी ज़िन्दगी चुपचाप
चोटों का दरिया सह गयी है।

आबनूसी चट्टान

क्या मालूम था—
कि रोशनी की तलाश
हमें
इस अन्धी गली में लाकर छोड़ देगी।

जिधर से हम इस में आये थे
उजाला उधर ही था,
इस सिरे पर
न कोई द्वार है, न खिड़की
और न कोई ऐसी दीवार

जिसे तोड़कर
उजाले के तीर या शहतीर
आड़े-तिरछे
नीचे उतारे जा सकते हों :
और—
साँसों को स्याह कर देनेवाले,
अरने भैंसे की तरह फुंकारते
काले अँधेरे को
चमकते भालों से—
मार गिराया जा सकता हो।

एक अन्तहीन आबनूसी चट्टान
रास्ते को रूँधकर
सामने खड़ी हो गयी है
उसे न इधर से पार किया जा सकता है
न उधर से,
लगता है—
जैसे उजाले का नामोनिशान ही मिट जायेगा,
रोशनी की याद ही नहीं
उस की पहचान तक खो जायेगी।
एक नक्षत्र से
दूसरे पर
पैर रखकर चलनेवाले के मन में
होता है—अनन्त उत्साह
और एक महान् दर्प भी।

पर जब उसे लगने लगे
कि हर नक्षत्र
किसी न किसी समय
अपनेआप बुझ जानेवाली
चिनगारी से बढ़कर
कुछ भी नहीं है
और
आकाश की नीली गहराई
नक्षत्रों के पार

उस सीमा तक जाती है
जहाँ—अनजानेपन का
भयानक समुद्र लहराता है
एकदम काला और गाढ़ा
तारकोल का समुद्र
जिसे न तैरकर पार किया जा सकता है
न अन्तरिक्ष में उड़कर
क्योंकि एक अन्धी गली की तरह
उस का भी दूसरा सिरा अज्ञात है।

रोशनी की तलाश
कोई क्या करेगा
अगर उसे लगने लगे
कि अँधेरा ही नियम है
और सूरज-चाँद ही नहीं
सारे प्रकाश-पिण्ड
केवल अपवाद हैं
जो कभी भी बुझ सकते हैं।
क्या तुम्हारे भीतर
वह चिनगारी अब भी दीप्त है
जिस ने—
हमें रोशनी की पहचान करायी थी ?
क्या सचमुच वह अभी बुझी नहीं है ?

इस अन्धी गली में धीरे-धीरे
मैं अब उस पहचान को भी
भूलता जा रहा हूँ जो उस से हम ने पायी थी,
और अगर वास्तव में मैं उसे
भूल गया तो ?
तो ?
तो ?
सोचने की कोशिश में
मेरा सर दरकता जा रहा है
कैसे कहूँ कि मैं अपवाद नहीं,
नियम हूँ ?

कैसे कहूँ कि अँधेरे की तरह
रोशनी भी
अनन्त है, अनश्वर है !
ऐसा कहने के लिए
लगता है अब मैं अकेला पर्याप्त नहीं हूँ,
आओ तुम मेरा साथ दो।
अगर अँधेरा सर्वथा अटूट नहीं है
तो हम लोग मिलकर
उस आबनूसी चट्टान को तोड़ सकते हैं।

वि ष वा क्य

तुम से दूर बेतहाशा भागते हैं मेरे पाँव
छोड़ते हुए पीछे, नदी-नाले, शहर-गाँव,
फिर भी जहाँ जाकर दम लेते हैं—
पाते हैं सर पर तुम्हारी छाँव ।

■

परस्पर विष-दंश

उस दिन
क्रोध से फुँफकारते हुए
हम ने अपने-अपने फन फैलाकर
एक दूसरे को डस ही तो लिया।

अब मेरा विष तुम्हारे रक्त में
और तुम्हारा विष मेरी नसों में
लहरें ले-लेकर
निरन्तर घुलता जा रहा है।
एक स्याही है जो हमारे मन को
प्रतिक्षण काला किये जा रही है।

आँखें पथराने लगी हैं
और दृष्टि भी,
चेतना के मद्धिम पड़ने के साथ-साथ
शून्य में डूबती जा रही हैं।

आदमी अमृत-पुत्र ही नहीं
विष-बीज भी होता है
एक सीमा के बाद
उस के लिए अपनी रक्षा
दूसरे की हत्या की पर्याय बन जाती है।
और तब,
अमृत से ज़्यादा
विष ही उपयोगी सिद्ध होता है।

निर्जीव हो जाने से पहले यह कहना चाहता हूँ
कि सत्य के इस साक्षात्कार के लिए
मैं तुम्हारा विशेष कृतज्ञ हूँ,

तुम्हें भी मेरा आभार मानना चाहिए
विष-दंश ही सही
मैं ने तुम्हें तुम्हारे अनुरूप कुछ दिया तो।

ओस-विष

अधमुँदी पलकों पर
ताज़े गुलाबों से
ओस की इतनी बूँदें
टपकाने के बाद
अब यह अप्रत्याशित
विष की झड़ी क्यों ?
किस पंखड़ी के नीचे
छिपा रक्खा था
काला करैत-फन ?

भस्म-शेष

बात वह विष-बुझी
जो कहीं तुम्हारे मन की गुहा में छिपी थी
तुम्हारे ही होठों ने कही,
मेरे लिए असह थी सर्वथा
फिर भी मैं ने
जैसे भी सही गयी, सही।

उस क्षण से लगातार मिचली-सी आती है
सारे कपाल में
जलती हुई लाशों की गन्ध भर गयी है।

बाक़ी सब कुछ ग़लीज़,
अब केवल चिता की भस्म ही पवित्र है;
शेष जो कुछ भी है, धुएँ का, धूल का चित्र है।

दोहरे आघात

अहंकार की टक्कर
व्यक्ति को चिथड़ा कर देती है।

हमारे प्रहारों ने
जितना एक दूसरे को
क्षत-विक्षत किया है
उस से कहीं अधिक
हम अपने आघातों से
स्वयं आहत हुए हैं।

शायद हम ने—
दोहरे आघात सहे हैं
अपने भी
और अपनेपन के भी।

बिना चोट खाये
आत्मीयता कभी चोट नहीं करती।
पर चोट खाने के बाद
और उसे सह न पाने के बाद
वह साँप से भी भयानक हो उठती है।
आदमी का ज़हर
हर ज़हर से ज़्यादा खतरनाक होता है।

उस के प्यार और प्रहार में
कौन किस से कितना बड़ा है
कहना मुश्किल है,
पर इतना जानता हूँ—

युग्म

कभी-कभी प्रहार को रोकने में
प्यार ही समर्थ होता है,
प्रहार और प्रहार और प्रहार
अपनेआप में एकदम व्यर्थ होता है।

स्नेह से बढ़कर
अभिमान का पोषक भी कोई नहीं है
और अभिमान से बढ़कर
स्नेह का शोषक भी कोई नहीं है।

प्रणय और बिना झुके,
जैसे चलना, रुके-रुके।

खोया हुआ कुछ

तुम्हें नहीं मालूम
कि इस बीच
तुम ने कितना कुछ खो दिया है।
दोष चाहे जिस का हो,
अनजाने, हम ने विष-बीज बो दिया है।

हो सकता है किसी दिन
तुम्हें इस का एहसास हो,
तुम्हारा भटका हुआ मन
शायद फिर कभी तुम्हारे पास हो।

मन में कुछ ऐसा होता है
जिस के खो जाने पर
सब कुछ बेकार हो जाता है,
किसी पक्षाघात से
जैसे आदमी
अपंग, लाचार हो जाता है।

बाक़ी सब कुछ ग़लीज़,
अब केवल चिता की भस्म ही पवित्र है;
शेष जो कुछ भी है, धुएँ का, धूल का चित्र है।

दोहरे आघात

अहंकार की टक्कर
व्यक्ति को चिथड़ा कर देती है।

हमारे प्रहारों ने
जितना एक दूसरे को
क्षत-विक्षत किया है
उस से कहीं अधिक
हम अपने आघातों से
स्वयं आहत हुए हैं।

शायद हम ने—
दोहरे आघात सहे हैं
अपने भी
और अपनेपन के भी।

विना चोट खाये
आत्मीयता कभी चोट नहीं करती।
पर चोट खाने के बाद
और उसे सह न पाने के बाद
वह साँप से भी भयानक हो उठती है।
आदमी का ज़हर
हर ज़हर से ज़्यादा ख़तरनाक होता है।

उस के प्यार और प्रहार में
कौन किस से कितना बड़ा है
कहना मुश्किल है,
पर इतना जानता हूँ—

कभी-कभी प्रहार को रोकने में
प्यार ही समर्थ होता है,
प्रहार और प्रहार और प्रहार
अपनेआप में एकदम व्यर्थ होता है।

स्नेह से बढ़कर
अभिमान का पोषक भी कोई नहीं है
और अभिमान से बढ़कर
स्नेह का शोषक भी कोई नहीं है।

प्रणय और बिना झुके,
जैसे चलना, रुके-रुके।

खोया हुआ कुछ

तुम्हें नहीं मालूम
कि इस बीच
तुम ने कितना कुछ खो दिया है।
दोष चाहे जिस का हो,
अनजाने, हम ने विष-बीज बो दिया है।

हो सकता है किसी दिन
तुम्हें इस का एहसास हो,
तुम्हारा भटका हुआ मन
शायद फिर कभी तुम्हारे पास हो।

मन में कुछ ऐसा होता है
जिस के खो जाने पर
सब कुछ बेकार हो जाता है,
किसी पक्षाघात से
जैसे आदमी
अपंग, लाचार हो जाता है।

हँसने-बोलने जैसी
स्वाभाविक चीज़ भी
अजीब लगने लगती है,
ममतामयी दृष्टि भी
अचानक—
कितनी ग़रीब लगने लगती है।

दंश-मुक्ति

तुम्हें अवकाश नहीं है
मेरे सुख-दुख के पास आने का
तुम्हें अवकाश नहीं है
अपने कहे हुए को निभाने का
तुम्हें अवकाश नहीं है
सत्य के सामने सर झुकाने का
तो तुम जो भी कुछ हो
मेरे लिए अर्थहीन हो,
दूसरे को रोशनी देने की जगह
अँधेरे की नदी जैसी
अपने ही कुहा-जाल में लीन हो।

उजाले की ओर उठे
छटपटाते हुए मेरे हाथों को देखो
वे तुम्हारे विष से मुक्ति पाना चाहते हैं
चाहो तो मुझे दुबारा डसकर
—उन्हें मुक्त कर दो
वे कलाकार के हाथ हैं
कौन जाने
उन्मुक्त होकर ऐसी चीज़ रच सकें
जो अप्रत्याशित हो
अद्वितीय हो
अकल्पनीय हो।

समय में यात्राएँ

सुबह का सपना,
भीतर से बाहर तक
अपना ही अपना।
क्षण भर को—
बाँहों के घेरे में खो गया
जन्म-जन्मान्तर का
तपना—कलपना।

■

शब्द से बँधा समय

तुम नहीं आये
पर तुम से बँधा समय
अब भी वैसा ही बँधा है,
पहले वह तुम्हारे आने का समय था
अब वह तुम्हारे न आने का काल है।

शून्य में ध्वनि की तरंगें उठा
तुम्हारे होठों ने समय को
शब्दों के रूपातीत जाल में कस दिया।
तब से वह अब तक छटपटाता है
—पाने के लिए मुक्ति।
क्षण के एक बिन्दु पर
तुम ने उस की बलि दे दी
पर अब भी वह मुक्त नहीं हुआ
मृत्यु-यातना से।
सधा नहीं था तुम्हारा वार
लोहू-रँगी धरती पर पड़ा हुआ उस का धड़
रह-रहकर अब भी तड़पता-तड़फड़ाता है।

तुम्हें नहीं आना था
तो तुम न आते
पर तुम ने अपने शब्द-जाल में
समय को बाँधा क्यों?
क्यों उस की इतनी क्रूर बलि दे दी?

अप्रत्यक्ष देय

क्या हुआ जो
सरसों के फूल का
पीला चटक गुच्छा एक
डाली से तोड़कर
मैं ने तुम्हें नहीं दिया—
ले जाकर।

क्या इतना काफ़ी नहीं है,
उस गुच्छे को
रंगों के प्रति अपनी
सहज ललक से मैं ने
देखा, सिहाया और अनुभव किया—
वह केवल तुम्हें दिये जाने के योग्य है
तोड़े बिना,
इसी क्षण, यूँ ही बस
टहनी पर खिला-खिला।

कितना भी असह हो,
जो कुछ तुम से अब तक मुझे मिला
कैसे कहूँ
समझा नहीं होगा
उस को तुम ने
मेरे योग्य।

वेश : मुक्त-केश

रात में बरसते हुए
पानी से
खुले केश।

चेहरे के पार्श्व में
दोनों ओर
बहता है
काला रेशम-झरना।

ज्यों कोई लम्बा बारीक बाल
कपड़े में कहीं पर
चिपका रह गया हो
त्योंही एहसास एक
घिरते अंधेरे का
मन से हटाये नहीं हटता है।

एक जोड़ा परिचित हाथ

मन करता है
अपने दोनों हाथ
कपड़े में लपेटकर
तुम्हारे पास भेज दूँ,
और तुम—
ऐसे आकस्मिक उपहार से
चकित होते-होते सहसा
इन्हें अपने हाथों में लेकर

ठीक उसी तरह अपने वक्ष पर रख लो
जिस तरह रहने में इन को
सुख मिलता है—और तुम्हें भी।

यह अच्छी तरह जान चुके हैं
कि इन का किया-धरा सब कुछ
तुम्हें रुचता है विसुध बनाता है।
इसी लिए मेरी काया के अंग होते हुए भी
अब यह मेरे पास नहीं रहना चाहते।
बेसब्र उँगलियों के आग्रह पर
तुम तक, मुझे छोड़कर
चले आने के लिए भी
बार-बार छटपटा उठते हैं।

कितने बेहाथ हो चुके हैं
मेरे हाथ,
काश तुम्हें यह मालूम हो पाता।

सच तो यह है कि मैं यहीं बैठे-बैठे
तुम्हें देख रहा हूँ,
तुम्हें छू रहा हूँ
तुम्हें पा रहा हूँ।
और मन ही मन
हाथों की सारी करतूत को दोहरा रहा हूँ।

अप्रतिहत वार्ता

व्यावहारिकता के अनगिन स्तरों के नीचे
स्वगत शब्दों का एक अविरल प्रवाह
एक झरना, एक सोता
अपनेआप फूटता रहता है;

भीतर ही भीतर
जैसे सारा जीवन
एक अप्रतिहत वार्तालाप बन गया हो।

आखिर क्यों
हर समय
मेरा मन तुम्हीं से बात करना चाहता है ?
स्वयं मैं
एक श्रोता मात्र बनकर रह गया हूँ।
पता नहीं, कब
क्या कहना था, क्या कह गया हूँ।

केन्द्रित यात्रा

मैं ने बिना कहीं गये
बड़ी लम्बी यात्रा कर डाली,
अब बहुत थक गया हूँ,
तुम्हारी खोज में
कहाँ नहीं गया मन
कौन-सा स्वप्न नहीं देखा
कौन-सा पार्श्व नहीं खोला
घर-बाहर निष्फल
कागा कहाँ नहीं बोला।

एक यही बोध नहीं रहा
कि मैं—
इतना सफ़र कर के भी
जहाँ था, वहीं हूँ
और स्वयं को जो समझता रहा
वह नहीं हूँ।

बातों का जल-तल

फिर वही,
कुछ भी कहूँगा मैं
तुम उत्तर दोगी नहीं,
अन्ततः
तुम्हारी निर्निमेष शब्दहीनता
मुझ से सहन होगी नहीं।

बातों के भीतर से

तुम ने एक बात कही,
तुम ने एक-एक कर
बहुत-सी बातें कहीं,
बातों के भीतर से
नयी-नयी बातों की पखड़ियाँ
यों ही उभरती रहीं।

आँख ने, कली को
फूल होते देखा,
लोग देखते हैं बस
खिलेपन के बिन्दु को,
मैं ने निहारी किन्तु
खिलने की प्रक्रिया : विकसने की रेखा।

अपनी सुकुमारता में
भीतरी सुगन्ध के
अक्षम मधु-कोष को
बाँधे हुए—सिमटी-सहमी
मन के रहस्य की मायामयी पर्तें
खुद ही उधार कर, हम ने मंजूर कीं
पूरे व्यक्तित्व को
देने और पाने की बिना लिखी शर्तें।

बातों के जल-तल में, सोया हुआ—
पूरा एक देशान्तर हम ने जगाया ;
जब भी उतरे पहचान की नीली गहराई में
मोती-मूँगों के अनगिनत द्वीपों बीच
अपने को अजनबी कहीं नहीं पाया।

बातों की कई राहें

एक राह—अनगिनत शिखरों को पार कर
खाईं-ख़न्दक़ों में झाँकती हुई
शब्दों के सिन्धु में खो गयी।
एक राह—वक्ष के बीच से उठी
होठों तक आयी, फिर—
नाभि से नीचे गिरी
अन्ततः बातों के नीर में
वह भी लीन हो गयी।
उलझे शब्दार्थ के पंक में
फँसी हुई एक राह—
थकी छटपटाहट में, अब भी कराहती है।

बातों के बीच से ही उगती
एक और राह—
धार की प्रखर गहराई में पैठकर
साथ-साथ
सारी ध्वनि-तरंगों के पार जाना चाहती है।

बातें कभी जाती हैं व्यर्थ नहीं,
किन्तु कभी लगता है—
चुप रहना सार्थक है,
बातों का कुछ भी तो अर्थ नहीं।

मांसल अर्थ

उँगली के पोर में
अपार अधिकार का अर्थ भरकर
'ज़रा-ज़रा', 'तनिक-तनिक' कहनेवाले
मेरे लालची होठों के बारे में
जो बात किसी से भी कहते नहीं बनी
वह तुम ने बेसाख़्ता कह डाली।

मैं जानता हूँ
अब अपने इस निश्छल वाक्य को
तुम ठीक उसी तरह
दोहरा नहीं सकोगी।

जिन्हें तुम ने अकस्मात् खोल दिया था
वे कूजते हुए शब्द—पंख फैलाकर
अन्तरिक्ष में उड़ गये।
माना, वे आँख से ओझल हो चुके हैं
पर उन की अनुगूँज अब भी मेरे पास आती है।
अकेलेपन में मैं उसे बार-बार
अपने कानों पर दस्तक देता हुआ पाता हूँ,

और अब मुझे जब-तब
अपने होठों के आस-पास
उजले दाँतों की कई-कई पंक्तियाँ
तैरती नज़र आती हैं।

वह कौन-सा टुकड़ा था
जिसे कहते-कहते
तुम ने एक ओर के दाँत भींच लिये थे ?
और मैं मन ही मन, तुम्हारे दिये

उस के मांसल अर्थ को
दोहराता ही रह गया।

बिम्ब या प्रतिबिम्ब

उस दिन बात ही बात में
तुम ने मेरे होठों के पास
अपने दाँतों की उजली पंक्तियाँ
इतने क़रीने से सजाकर रख दीं
कि अब मैं चाहकर भी
उन्हें वहाँ से हटाने में मजबूर हूँ।

तुम ने सिर्फ़ इतना ही कहा था
या कि कहना चाहा था
या कि होठों को इशारा भर किया था
कि वे संकेत मात्र से
मन की सच्ची अनुभूति
जितनी भी हो, सही-सही कह डालें।

जब-जब तुम अपने भीतर की पर्तें
मेरे आगे—एक के बाद एक—
सहज और निःसंकोच भाव से खोलने लगती हो
मैं तुम्हारे आलोक में
धीरे-धीरे अपनी पूरी परछाईं देखने लगता हूँ
और भूल जाता हूँ कि मेरा अपना सत्य
बिम्ब है या प्रतिबिम्ब।

जिजीविषा

मुझे तुम
बिखरे हुए केशों में भी
उतनी अच्छी नहीं लगती हो
जितनी कि तब
जब गहरे विश्वास के साथ
अपने अन्तरंग अछूते, किसी से भी न कहे गये
नितान्त निजी सत्यों को
मेरे सामने—
उघार-उघारकर रखती जाती हो
गोया मैं तुम से उतना ही अभिन्न होऊँ
जितना कि तुम्हारा मन।

कभी-कभी
मुझे ऐसा भी लगा है
कि तुम मुझ से वह भी कहना चाहती हो
जो तुम ने अब तक
अपने से भी नहीं कहा है
और मैं उस को सुनने के लिए
एक नहीं कई ज़िन्दगियाँ
जी सकता हूँ।

प्राप्ति

अकथनीय
मुझे जो मिला
मैं जानता हूँ;

तुम ने क्या पाया, किन्तु—
मेरे सम्पर्क से ?
उत्तर में—पीछे सिर टेककर
दोनों आँखें तुम ने मूँद लीं
भीतर कहीं दरकी हुई धरती पर
पानी की एक झड़ी गिर गयी;
काँपती बरौनियों की सन्धि से
हलकी तरलता की
वही दीप्त छाया लहरा उठी।

इस तरह अपने में डूबकर
आँसू को रोक पाना
सम्भव नहीं है कभी मेरे लिए।
शब्दों की वागें कसे
होठों पर थोड़ा खिंचाव
जैसे-तैसे
तट तक खींच लाया-सा
नाव परितोष की,
यों ही, बारीक-सी सिहरन एक
त्वचा की सारी चिकनाई को पूरकर
रोओं के धुले पाँव छू गयी।

शेष था—
जो कुछ भी पाना मुझे
शान्त-स्निग्ध चेहरे पर उभरी हुई
भीगी-मुँदी आँखों को देखकर
मैं ने वह पा लिया।

दो स्वर

वक्ष में सर गड़ाकर
एक भरे स्वर ने कहा—
'पिछले दिनों
बहुत तकलीफ़ हुई,

बहुत तकलीफ़ हुई,
बहुत तकलीफ़ हुई।'
कन्धे पर, पीठ पर
स्नेह का हाथ फेर
कानों के पास तक झुक आये
दूसरे तरल स्वर ने अनुनय की—
'नहीं, नहीं, नहीं,
ऐसा मत कहो,
ऐसा मत कहो,
ऐसा मत कहो।'
सम्पृक्त होठों की परिधि में
दोनों परितप्त स्वर
अनायास सिमटकर खो गये।

शब्दों के देवता
विह्वल हो
जिह्वा तक आये
फिर अन्तर्धान हो गये।

वरणीय

धीरे से तुम ने
एक बहुत भली बात कही,
आगे भी याद रहेगी
जैसे इतने दिन याद रही।

और गहरे जीने की इच्छा से
प्रेरित होकर, जो भी—
कर्म किया जाता है
वही करणीय है;
जैसा भी पात्र हो,

परिस्थिति हो जैसी भी,
जीवन वरणीय है।

बात की बात

तुम ने—
अपनी बात पूरी न कर के
मुझे विवश किया कि मैं
तुम्हारी आत्मीयता पर
एक के बाद एक
सन्देह के दाँत
गड़ाता जाऊँ,

विश्वास को
दाढ़ों के नीचे
दाबकर चबाता जाऊँ,
अपनी देह को स्वयं
कुत्ते की तरह नोंच खाऊँ,
बेहद तकलीफ़ पाऊँ,
मिट्टी बनूँ, पत्थर बनूँ
अकाल बूढ़ा हो जाऊँ,
अपनी नज़र में
अपनेआप गिर जाऊँ।

तुम ने मुझ से जो कहा, वह नहीं किया,
मुझे लगा, मैं व्यर्थ ही जिया।
तुम ने मुझ से जो कहा, वही किया,
मुझे लगा, मैं ने आसमान छू लिया।

बात अपने में हीरा है न मोती है,
सिर्फ़ बात की बात होती है।

एक संवाद

'स्नेह के नाम पर
तुम खुद तलाशते हो देह
और मुझ पर करते हो सन्देह !'

'तो तुम ने अब तक यही समझा मुझे ?
और, ऐसा कहने का साहस है तुम्हें,
वह भी मुझ से !'

'वह जो तुम्हारे पास
बार-बार आते हैं,
क्या तुम से कुछ भी नहीं पाते हैं ?'

'क्यों समझते हो
मैं सब के लिए वही हूँ,
जो तुम्हारे लिए
सब को वही अधिकार है जो तुम्हें।'

लगता है—
एक दूसरे के लिए
हम दोनों नासमझ हैं
क्या इतने लम्बे अनुभव के बाद
यह उपलब्धि कम है ?

संवाद और उस के बाद

"कैसे समझाऊँ..."
"मैं ने कब कहा—'मैं नहीं समझा'"

"क्या ?"
"जो तुम्हारी आँखों में है"
"बस उतना ही, वहीं तक,
तब क्या समझे ?"
"कुछ नहीं।"
"कुछ नहीं ?"

एक तूफ़ान आया
और सारे मनस्ताप को
अपने में डुबाता हुआ
शरीर के इस पार से उस पार तक
निकल गया।

फ़र्श की ठण्डक को
तलवों के नीचे
मैं बड़ी देर से
महसूस कर रहा हूँ,
और अब—
खून तक जमने लगा है,
शायद तुम भी इसे समझ सको।

तैरता अन्तराल

....
तुम जब बुलाओ तब आऊँ।

मैं तुम्हें कब नहीं बुलाता हूँ ?
....
मौन का एक लम्बा अन्तराल
आँखों में बादल की तरह तैर गया।
दृष्टि से दृष्टि यों मिली
कि एक तान होकर रह गयी

कुछ क्षण या कि कुछ पहर
या कि कुछ दिन, मास, बरस
या कि एक पूरी ज़िन्दगी बीत गयी।
और
बहुत देर तक हमारे शब्द
सारसों के एक जोड़े की तरह
अन्तरिक्ष में—
पंख पसारकर उड़ते रहे।

फिर तैरते बादल की दीर्घतर होती हुई छाया ने
हम दोनों को अपने में सहेज लिया।

आत्मान्वेषी मौन

मैं ने कहा—सत्य है
तुम ने कहा—भ्रम है
हम-तुम ने कहा—सत्य भ्रम है
तुम-हम ने कहा—भ्रम सत्य है
हम दोनों ने मिलकर घोषित किया—
—सब कुछ अनिर्वचनीय है
अन्ततः यह भी हम ने कहा ही,
सचमुच शब्दातीत
हम कहाँ हो सके ?
अपने को सार्थक
आत्मान्वेषी मौन में
कहाँ खो सके ?

क़ीमत का सवाल

—'अच्छा तो ! आज आप
मुझ से मेरी क़ीमत पूछने आये हैं,
बहुत ख़ूब ! आइए, तशरीफ़ लाइए
यों क्या मैं आप से भी आप की क़ीमत पूछ सकती हूँ !'
—'क्यों नहीं, बख़ुशी पूछिए,
पर मैं जो कहूँगा उसे आप सुन नहीं सकेंगी।'
—'ऐसा क्यों सोचते हैं आप,
एक बार जी कड़ा कर के कह डालिए जो भी कहना हो।'
—'तो लीजिए, सुनिए
मेरी क़ीमत है उस आदमी का सर
जो आप की आँखों में मुझ से ज़्यादा समाया हुआ है,
मुझे यक़ीन है कि वह मैं ख़ुद नहीं हूँ।'
● उस ने तो नहीं
पर उस की छलछलायी आँखों ने जवाब दिया—

—'आप क्यों अपना सर मुझ से क़लम करवाना चाहते हैं ?
इतना बड़ा गुनाह कर के
अगर मैं उसे लाकर आप को दे ही दूँ
तो क्या आप मुझे
या उसे
पहचानने लायक़ रह जायेंगे ?

● ● इस बेज़ुबान दहकती आवाज़ की आँच में
मेरा यक़ीन मोम की तरह पिघलकर
अपने आप नीचे ढलने लगा।

मैं ने देखा—मेरे धड़ से
मेरा सर अपने आप अलग होकर
उस के क़दमों पर जा गिरा है

और मेरे कन्धों पर एक दूसरा सर उग आया है
यह कहते हुए—
'आप की क़ीमत मैं भी नहीं हूँ।'

अगली मंज़िल

मैं तुम्हें अपने आप
अपना सब कुछ
दे डालना चाहती हूँ
पर जाने क्यों हर बार
मेरे संकल्प की भरी हुई अंजलि का
फूल-जल
काँपती उँगलियों की सन्धि से
रिस-रिस कर
रेतीली धरतो में
सूख-सूख जाता है।

और तुम
जो सब कुछ पाने के लिए
निरन्तर व्यग्र बने रहते हो
मेरी विवशता को,
जड़ता को—देखकर
ठहर-ठिठक जाते हो,
तब, मुझे बार-बार लगता है
जैसे मैं कोई अपराध कर रही हूँ।

मैं कैसे कहूँ
कि मुझ पर लगाये गये
तुम्हारे सारे आरोप झूठे हैं,
पर सत्य क्या है
मैं अब तक स्वयं नहीं जान पायी हूँ,

और शायद तुम भी मेरी तरह
उस की खोज में भटकते ही रहे हो।

इस जगह हम दोनों एक हैं,
इसी लिए हमारी अगली मंज़िल
(अगर तुम चाहो तो)
यहीं से शुरू हो सकती है।

मणिदीप

जो हुआ
उस के दायित्व को
एक झटके के साथ
दूर फेंकते हुए
तुम ने कहा—
'परिस्थिति ऐसी ही थी।'
पर मैं, जो तब,
घटित की विडम्बना का साक्षी था
और अब,
उस की मानसिक परिणति,
दुर्घटना का वाहक हूँ,
यही कहूँगा—
'परिस्थिति नहीं,
तुम्हारी मनःस्थिति ही वैसी थी।'
निरन्तर चुभता हुआ एक यही
धारदार प्रश्न है जो—
कलेजे को छेद कर
इस पार से उस पार निकल जाता है—
'क्यों हो जाती है वैसी
हमारी मनःस्थिति,
जैसी, हम चाहते नहीं हैं, हो?

कभी पूछा है तुम ने अपने से
यह प्रश्न ?
स्वयं से छिपाना चाहते हैं हम
अपनी वह कमज़ोरी
जो उपजा करती है
अपने ही मन पर
अधिकार न कर पाने से।

जीवन में कहीं भी
अपने से अपना दुराव नहीं चलता है ;
भय, शोक, आतंक,
शंका, ग्लानि, सन्त्रास,
यही तो कसौटी है
मन को परखने की।

हम अगर,
परिस्थितियों की ही जोड़-बाक़ी हैं
तो फिर—क्या हैं हम ?
पिद्दी न पिद्दी को शोरवा !

जितना परिवेश हमें बाँधता है,
उतना ही रचते हैं हम भी परिवेश स्वयम्।
मानेगा कौन,
परिस्थितियों की रचना में
कोई हमारा योगदान नहीं।
सृजन-सामर्थ्य छिन जाने पर
शेष क्या रहता है
मानव-व्यक्तित्व में ?

हर परिस्थिति हमें
अपने से
ऊपर उठने का
देती है—सूक्ष्म संकेत
समय से समझ सकें
यदि हम उसे।

जाग्रत् सौन्दर्य-बोध ही तो मणिदीप है
अप्रतिहत जिस का संकुल प्रकाश
मन के अँधेरे में
बनता है
अपने अस्तित्व का स्वयं साक्ष्य;
वही है रचयिता का
ज्योतित प्रेरणा-स्रोत
वही तो रचना है अर्थ-पूर्ण।

अन्तर का अन्त

दर्द भरे माथे पर होठ
नीर भरी आँखों पर होठ
उलझ रहे बालों पर होठ
भीग गये गालों पर होठ
बिना कही हुई रुँधी बातों पर होठ
रहे-सहे गहरे आघातों पर होठ

■

अदृष्टपूर्वा

माना
तुम में वह सब कुछ नहीं है
जो एक स्त्री में होना चाहिए,
पर तुम में वह बहुत कुछ है
नारी जिस का पर्याय समझी जाती है।

मैं ने तुम्हारे सम्पर्क में आकर
क्या-क्या-कुछ समझा-सीखा है, कह नहीं सकता
लेकिन हर बार लगता है
जैसे नया कुछ जानने से पहले
पिछले हर ज्ञान को, हर सीख को—
भूल जाना होगा।

मैं जब भी तुम्हें गहराई से पढ़ना शुरू करता हूँ
यही लगता है
सब अक्षर मेरे पहचाने हुए हैं,
पर सब उन से बने हुए शब्दों का अर्थ लगाने चलता हूँ
तो फिर लिपि-ज्ञान अधूरा लगने लगता है,
बहुत-से अक्षर अनपहचाने निकल आते हैं
धीरे-धीरे सारी पहचान खो जाती है
और तुम मेरे लिए सिन्धुघाटी-लिपि से भी अधिक
दुरूह हो उठती हो।

मैं थककर केवल वर्णमाला का सौन्दर्य निरखने लगता हूँ।
आड़ी-तिरछी रेखाओं की तरह
एक दूसरे को काटती—घनी अलकें
मात्राओं-सी खिंची,
दूर तक तनी हुई—तीखी भौंहें,
और उस के ऊपर अनुस्वार की तरह

बीचो-बीच लगी हुई प्रदीप्त बेंदी
इसी सब के भीतर छिपे हुए अर्थ को
बिखेरती मुसकान, कभी समेटती उदासी,
कभी यों ही निरर्थकता का उद्बोध करती हुई
व्यंग्य-विद्रूप भरी हँसी,
और कभी हर चीज़ को रहस्य बनाते हुए
सब के ऊपर धुँधलापन फैलाकर
घने कुहरे की तरह, छा जानेवाला मौन
जिस के आगे
तुम्हें जानने का मेरा सारा अहंकार तिनके-सा टूट जाता है
और मैं निपट अनाड़ी की तरह
फिर से 'ओनामासीधंग' करने लगता हूँ।

पुरुष ने कहा 'क'
स्त्री ने कह दिया 'कौआ'
और देखते-देखते एक काला पक्षी
पंख पसारकर हमारे सामने की दिशा में
तेज़ी से उड़ जाता है,
मैं नहीं जान पाता कि उसे काक कहूँ या कोकिल
आँखें शून्य की ओर खुली की खुली रह जाती हैं
निर्निमेष, निर्दृष्टि।

व्याख्या से परे

चिकनी सतह पर गिरे हुए पारे
या
गहरी घाटी में बहती हुई नदी
की तरह
किस स्थिति में
किस क्षण
तुम्हारा ढलान किधर होगा
कोई नहीं कह सकता,

मेरा कौन-सा शब्द
तुम में कब कौन-सी प्रतिक्रिया
उत्पन्न करेगा
मुझे भी नहीं मालूम।

तुम्हारी गति
तुम्हारी मति
अव्याख्येय
अकल्पनीय
और अलक्ष्य होकर ही
उपजाती है एक विचित्र रति
जो अगाध विश्वास के
सर्वथा विपरीत होती है।

छलावे से भरी
तुम्हारी शरारती आँखें
न हृदय की भाषा बोलती हैं
न बुद्धि की।
उन में
एक अजब-सा खिंचाव रहता है
जो सीमाहीन दुराव से उपजता है।

तुम्हारा मन इतना सूक्ष्म है
कि तुम स्वयं ही उसे नहीं जानतीं।
कभी-कभी तुम्हारे होठ
मेरे भीतर के ज़िन्दा आदमी को
चूसकर
इस तरह अपने भीतर खींच लेते हैं
कि मुझे लगता है
मेरा अस्तित्व भी
मानो युगों से तुम से जुड़ा हो
जैसे मेरे होठ भी तुम्हारे हों
पर ज्योंही सटे हुए चेहरों में
फ़ासला आ जाता है
उलझी हुई साँसें

अलग हो जाती हैं
वक्ष
एक दूसरे का दबाव महसूस करना
बन्द कर देते हैं
सारा पंजर भीतर से ख़ाली-ख़ाली
लगने लगता है।
तुम्हारी आँखों की स्वर-लिपि
बदल जाती है
और उसे पढ़ पाना
मेरे लिए मुश्किल हो जाता है।

हर बार
नये अक्षर
नया अर्थ
नया राग
नयी दुरूहता
पर यह भी सोचता हूँ
क्या चेतना की सब से बड़ी विशेषता
उस का दुरूह होना ही है ?
संवेदनीयता, आत्मीयता और रमणीयता
क्या उस से ऊपर नहीं हैं ?
यह सब भी तो तुम में हैं
फिर अपनी दुरूहता को ही क्यों
तुम ने अपने भीतर इतना सहेज रक्खा है ?

तुम श्रद्धा और इड़ा
दोनों होने के साथ-साथ
मनु द्वारा बलि किये हुए
पालित पशु की आत्मा भी हो।

प्रदीप्त क्षण

तब मेरी इच्छा थी,
तुम्हारी नहीं,
अब तुम्हारी इच्छा है
मेरी नहीं।

इच्छा-अनिच्छा की
इस धूप-छाँह में
हरसिंगार के फूलों-से
बिखरे पड़े हैं—
वे प्रदीप्त क्षण
जिन में लाल-सफ़ेद रंगों की तरह
एकाकार हो गयी थी
हम दोनों की इच्छा।

व्यक्तित्व-भेद

कहीं किसी बिन्दु पर
तुम्हारा स्वभाव
मुझे एकदम
अपने विपरीत दिखाई देता है।

थोड़ा-सा कहकर भी
तुम्हें लगता है—
जैसे तुम ने सब कुछ कह दिया हो
और अब कुछ भी शेष नहीं रहा,

पर निरन्तर तुम से
इतना कहते रहने के बाद भी
मुझे यही लगता है
कि मैं ने अभी कुछ भी नहीं कहा,
सब कुछ कहने को शेष है।

तुम्हारा व्यक्तित्व
खिलते-खिलते मुँद जाता है
और मेरा
खिलकर मुँदना जानता ही नहीं
चाहे मुरझा क्यों न जाय।

नारी-नर
सृष्टि-जल में अतल
एक ही नाल पर
खिले दो फूल हैं,
फिर भी उन के स्वभाव
आपस में मिलकर भी,
कितने प्रतिकूल हैं।

बर्फ़ की नदी

अपने को
और कितना नीचे लाऊँ ?
मैं ही हूँ—
कभी हिम-शिखरों को छूता हुआ बादल
कभी सूखी धरती पर बहता हुआ जल
अब और कहाँ जाऊँ ?

मेरे लिए
तुम्हें समझ पाना

बहुत मुश्किल है
और तुम्हारे लिए—मुझे,
पर यह भी लगता है—जैसे हमीं
एक दूसरे को समझ सकते हैं
कोई और नहीं,
यहाँ या कहीं।

मेरा अहम् अपने आप—
बहुत बार पिघलकर पानी बन चुका है
पर तुम्हारी कठोरता
देखता हूँ, अब भी ज्यों की त्यों है;
नहीं, पहले से भी ज़्यादा असह्य
बहुत गहरी, बहुत दुरूह
एक के बाद एक प्रत्यूह
जैसे युगों से जमी हुई
बर्फ़ की श्वेत नदी।

मेरी प्यास के हित में
अपने को
फिर से
पानी हो जाने दो।

पानी या राख

उसी वेश में
उसी जगह
उसी मुद्रा में
उसी तरह टिककर
उस दिन कहे हुए शब्दों के लिए
तुम्हें माफ़ी माँगनी होगी,
नहीं तो मैं
इसी ताप में

युग्म

इसी तरह
इसी धरती पर
जीवन भर
अंगारे-सा
जलता रहूँगा।

अन्तिम रूप से चुन लो
जो तुम्हें मंजूर हो,
स्वयं पानी हो जाना
या मुझे राख बनाना।

नान्यः पन्था

तुम ने
आज तक
अपनी ग़लती नहीं मानी
अपने किये का प्रायश्चित्त नहीं किया।
इसी लिए मैं
तपा रहा हूँ अपने को
भीतर धधकती हुई आग में।

कहते हैं
साँच की परख
आँच में ही होती है।
राख की तरह
अंगार से
छूटकर गिर गया है
सारा झूठ ;
फिर भी मैं बुझा नहीं,
हुआ नहीं निरा ठूँठ।

कैसे मैं मान लूँ—
जीवन के लिए अनिवार्य है
करना समझौता असत्य से

कर सको तो तुम भी
अपने सत्य को प्रमाणित करो,
निर्भय. निःशंक हो,
आत्मानुप्रेरित कर्म को वरो।
कोई नहीं है मार्ग
इस के सिवा।

संस्कृति : स्वीकार

स्वीकार और बलात्कार के बीच
संवेदना के पतले धागे में बँधी
लटकती है
संस्कृति की दुधारी तलवार।

किसी झटके से
सूत्र टूटा नहीं कि गिरी
और इनसानियत का सर
—धड़ से अलग !
आदमी, फिर वही—
पशु का पशु
या उस से भी नीचे
भयानक, नृशंस,
आततायी, राक्षस।

तुम मुझे
अंश-अंश कर के
युगों में स्वीकार करो
यह मंजूर है,
पर अपने को तुम पर
या किसी पर बलात् आरोपित करना

युग्म

मुझे उस का ही नहीं
स्वयं अपना भी अपमान लगता है।

प्रतिदान नहीं

मैं अनुभव करता हूँ
'तुम से चाहना'
'तुम्हें चाहने' से —
कितना भिन्न है।

अच्छा हो,
अगर तुम भी
अन्तर कर सको
'मुझ से चाहने'
और 'मुझे चाहने'
के बीच।

मैं प्रतिदान नहीं चाहता,
केवल अपने दिये का
सम्मान चाहता हूँ,
पर लगता है
तुम वहाँ भी कृपण हो।

एक नाट्य-निर्देश
नेपथ्य से हलकी अनुगूँज सुनाई पड़ती है—
'रहि री मानिनि मान न कीजै।
यह जोवन अँजुरी को जल है,
ज्यों गोपाल माँगै त्यों दीजै।'
और धीरे-धीरे खो जाती है।

जंगल की आग और पानी की तलाश

देह का प्रतिरूप देह में समाता हुआ !
देह का अक्स देह के पार जाता हुआ !
मैं चकित हूँ—
कैसे इतना पारदर्श, इतना सूक्ष्म,
देह से देह का नाता हुआ !

■

जंगल की आग और प्रश्नाहत हम

जैसे तुम ने मुझे
अकस्मात् प्रश्नाहत कर के
आग लगे जंगल-सा
धधकता हुआ छोड़ दिया था
वैसे ही उस दिन मैं ने भी तुम्हें
प्रश्न से घायल हिरनी की तरह
उस आग के बीचो-बीच
एक उभरे हुए पत्थर पर
लाकर रख दिया
ताकि तुम भी महसूस कर सको
कड़वे धुएँ की रंगीन घुटन
नुकीली लपटों की बर्छियों-सी चुभन
कभी धू-धू और कभी साँय-साँय करता हुआ
—वियाबानपन
अधजली, चटपटाती हरी डालियाँ
तुम्हारे चारो ओर
एक सुरक्षा-वृत्त बनाती जा रही हैं
ताकि तुम अपनी बड़ी-बड़ी सपाट आँखों से
देख सको कि जलता हुआ जंगल
भयावह होते हुए भी कितना खूबसूरत लगता है।

आखिर तो दावाग्नि की प्रचण्डता
वन और वनवासी दोनों को
एक ही घाट उतारेगी ;
इसलिए मैं चाहता हूँ कि अन्तिम परिणति से पूर्व
तुम भी वह दृश्य देख लो जो मैं हो चुका हूँ।

अवतरण

नाभि के कूप में
चुम्बन एक
हरसिंगार फूल-सा गिरा।

तल तक पहुँचने के पहले
उस रोमांचित राह में
कई बार फिरकी-सा फिरा।

तब कहीं
कमल की छिद्रमयी नाल के
भीतर से झाँकते
उज्ज्वल तरंगायित गहरे जल-वृत्त के
माथे पर गिरा।

सीढ़ियाँ कुएँ में

झाँककर देखा
कुएँ का गोल जल
झ-ल-म-ल,

जैसे नींद के अँधेरे में
किसी ने खोल दी हो
—आँख,
पूरी की पूरी पुतली

उतर गयी हो नीचे
दबकर, एक ही—
आँसू के बोझ से।

ज्यों ही फिर झाँका मैं
शान्त जल-वृत्त के बीचो-बीच
उग आयीं, चौमुख सीढ़ियाँ।

किरनों के पाँव
संगमरमर के चिकने सोपानों पर
फिसल गये।

साधकर साँस मैं ने
तल तक पहुँचने को
ज्यों ही बढ़ाया पैर—

टूट गिरीं
सीढ़ियाँ झमाक से
दुग्ध श्वेत आयतों की शृंखला
उच्छलित
जल की तरंगों में बदल गयी।
मेरा तलवा
नाचते हुए सूखे पत्ते-सा
धीरे-धीरे नीचे उतर
अपनी प्रतिच्छाया को ढाँकता
पानी की सतह पर
टिके-टिके सो गया।

पूरा स्वप्न-दृश्य यह
अपने में आँककर
गोल जलवाला कुआँ
मुझी में खो गया।

चुनौती के बाद

तुम ने
जाने के लिए पैर बढ़ाया
तो अचानक रुक क्यों गये ?

तुम ने गर्व से सर उठाया
तो इस तरह झुक क्यों गये ?
क्या हुआ
जो तुम ने मेरी ताक़त
आज़माने का हौसला किया,

पर जब मैं ने
आँखों से आँखों को तौलकर
तुम्हारी चुनौती स्वीकार ही ली
तो तुम मुझ से पहले
सहसा चुक क्यों गये ?

देह-तर्क

जादू और कुछ नहीं,
टोना और कुछ नहीं,
जिस का मन पा लिया
उस नारी के तन से
सोंधा-सलोना—
और कुछ नहीं;

देह की सीमा में
जितना-जो हो लिया
उस से उतने से परे
होना और कुछ नहीं।

कुलिश पर टिका
अधोमुख कमल
तप्त मधु-सौरभ के भार से—
अनायास ही तो
भर देता है भीतर की रिक्तता
और पाट देता है खाइयाँ
दरके व्यक्तित्व की।

बारम्बार
मन्थन की याद कर
रक्त की लाल नदी
अहरह टेरती है,
नसों में सोये क्षीर-सागर को।

आस्वाद की आँच

त्वचा से हड्डियों तक
जाता है व्याप
अपनेआप
देह में देह का स्वाद,
पिघलकर बहने लगता है
नसों में फ़ौलाद।

मन में एक साथ
अनगिन सैलाबी नदियाँ उमड़ आती हैं;
सितारों को छोड़कर मायूस
रीढ़ की सीढ़ी से
नीचे उतर आता है चन्द्रमा।

उड़ने-उखड़ने लगती हैं
काँपती दिशाएँ
सूरज के तेज से उत्तापित,
उद्धत हवाओं में ।

नदी के धोखे

जंगल की आग में
पड़े हुए फल की तरह
रह-रह कलेजा चटखता है,

धुएँ की घुटती दीवारों में बन्द है
भुनता-सुलगता हुआ सारा वन ।

इतना दाह, इतनी मर्मान्त प्यास—
हरे-भरे तरुओं के भीतर से झाँकती हैं
लपटों की जीभें लाल !

तुम से सम्पृक्त हो
एक क्षण जो मैं ने कभी जी लिया है,
नदी के धोखे, मुझे लगता है—
मैं ने यही दावानल पी लिया है ।

देह से परे

हमारे होठों
हमारी बाँहों
हमारे अंगों के बीच का आकाश

जब पूरी तरह निःशेष हो जाता है,
तब मुझे हर बार लगता है,
हम दो नहीं एक हैं,
अविभाजित इकाई
जिसे तोड़कर
दो परस्पर पूरक कायाओं में
ढाल दिया गया हो,
एक दृष्टि देनेवाली दो आँखें
जिन्हें अलग-अलग बन्दी-गृह में
डाल दिया गया हो।

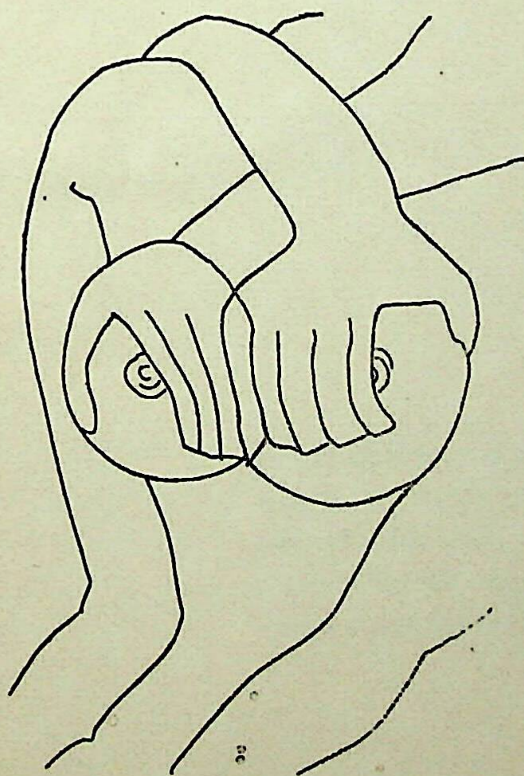
हम यानी कि सिर्फ़ मैं और तुम नहीं,
वे सब जो लगते अनेक हैं
किन्तु जिन के बीच का आकाश
मिटने के लिए छटपटाता है,
सृष्टि की मूल परिकल्पना में एक हैं।

दूर तक यात्रा कर लेने पर
सीमाएँ देह की अदृश्य हो जाती हैं
प्रतिध्वनियाँ अन्विति की
तन ही नहीं
मन के भी पार तक जाती हैं।

परितृप्ति की खोज

एक परितृप्ति जो—
होठों से होठों में बह गयी।
एक परितृप्ति जो—
भीतर के अविज्ञात सत्य को
आँखों से कह गयी।

किन्तु मैं खोजता हूँ
दृष्टि के सूक्ष्म संकेतों में
पूरे आत्मदान के बाद उपजनेवाली
वह परितृप्ति जो—
मुझ तक आने में अब भी शेष रह गयी।



ज य - गी त

व्यक्तित्व की खोज तन के सहारे,
मथते रहे अन्त तक मन हमारे,
तपती हुई वासना के करों में
मैं स्नेह-नवनीत कैसे सहेजूँ।
इतनी बड़ी जीत कैसे सहेजूँ।

■

जय-गीत–१

इतनी बड़ी जीत
कैसे सहेजूँ।

कुछ साधकर मौन,
कुछ पूछकर कौन,
तुम ने लिये जान
सब दावँ मेरे।
बिखरा घने केश,
सज पावसी वेश,
तुम ने दिये बाँध
फिर पाँव मेरे।

होठों सिये होठ,
गालों पड़ी गोंठ,
फिर काँपकर
साँस में साँस खोयी।
पैरों घिसा माथ
बालों फिरा हाथ,
ममता—दबी
वासना में पिरोयी।

यह हार-उपहार
किस देस भेजूँ।

इतनी बड़ी जीत
कैसे सहेजूँ।

जय-गीत–२

इतनी बड़ी जीत कैसे सहेजूँ।

जब सत्य को जानना ही कठिन हो,
मैं कल्पनातीत कैसे सहेजूँ।
इतनी बड़ी जीत कैसे सहेजूँ।

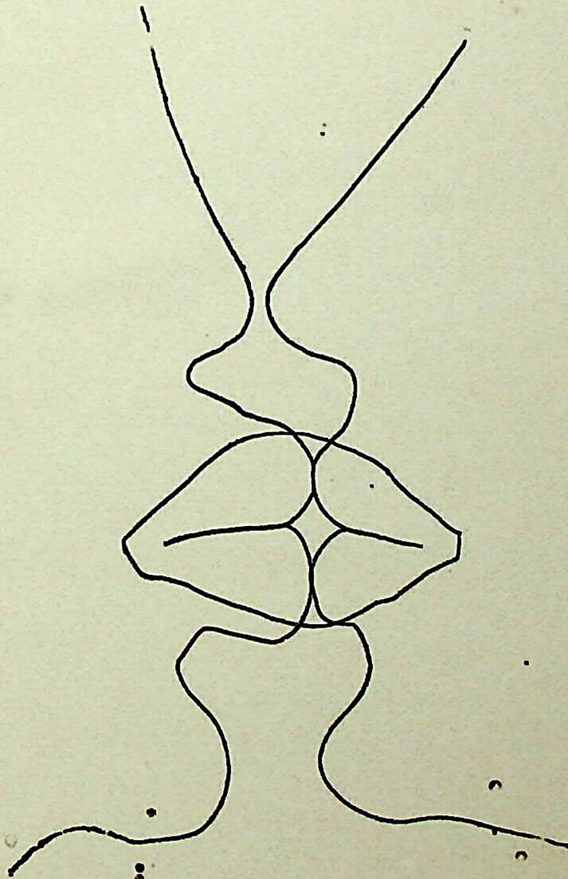
हिमपात से रुद्ध थी वारि-धारा—
किस ने उसे सिन्धु-तल से पुकारा—

अब क्षुब्ध बड़वाग्नि की अर्चियों में,
पिघला हुआ शीत कैसे सहेजूँ।

व्यक्तित्व की खोज तन के सहारे,
मथते रहे अन्त तक मन हमारे ;
तपती हुई वासना के करों में,
मैं स्नेह-नवनीत कैसे सहेजूँ।

समरूप हो जो सृजन में, प्रलय में,
आरोह-अवरोह, स्वर-ताल, लय में,
दम घोटती रोज़ की उलझनों में,
वह प्राण-संगीत कैसे सहेजूँ।

समाहार



आ त्म क थ्य

यातना का अंकन भी
कितनी बड़ी यातना है ।

■

आत्मबोध

पुण्य हूँ
या
पाप हूँ ?
क्या कहूँ ?
जो कुछ भी हूँ
अपनेआप हूँ

वही राह देता है
चलता हूँ
वही दाह देता है
जलता हूँ
भीतर सँजोये
कहीं ऐसा एक ताप हूँ ।

पुण्य हूँ
या
पाप हूँ ?
क्या कहूँ ?

पुनः विकार-स्वीकार

कोरे निषेध से
मेरे निकट
सन्तुलित स्वीकृत वरेण्य है।
वासना
मानव यथार्थ की भूमि पर

गहरे में रोपी हुई
वल्लरी है
बढ़ती है, पौंड़ती है
डहडहेपन में, उल्लास की
कलियाँ खिलाती है सभी ओर
फिर भी उस की गति
पूरे परिवेश में
एक ही दिशा की ओर जाती है ;
आधार पाने पर
अधिकतर ऊपर को।

परित्याग संयम का संगत पर्याय नहीं ;
नकारना ही शमन का सम्भव उपाय नहीं।

मैं ने सदा ही किया
मन के विकारों को स्वीकार
फिर भी नहीं मुझ को लगा
उन से—
मान ली मैं ने हार।

सार्थकता

सूखी नदी में
नैतिकता का नाव-पुल व्यर्थ है,
निरर्थक है तैरने का ज्ञान भी
यदि है तो—
सब की सार्थकता है अनुभव की राह में,
जल में, तरंगों में, गति में, प्रवाह में।

तुम, शून्य और संख्यातीत

जहाँ भी दो की प्यास
आपस में पूरी बुझ जाती हो
क्यों हो वहाँ तीसरे का कोई बीच ?

लोगों को स्वीकारा
सदा टकसाली पुण्य नहीं होता,
और न पाप ही होता है
सब का नकारा।

सोचता हूँ
कैसे अनैतिक हो सकती है
आदमी की भूख-प्यास।

सृष्टि या तो एक में पूर्ण है
या दो में—
वे जो एक-दूसरे के पूरक हों ;
द्वन्द्व में रहकर भी,
यन्त्रणा सहकर भी।

इस के सिवा
सारी संख्याएँ निरर्थक आवृत्ति हैं ;
एक या दो के बाद
यदि कुछ भी सार्थक हो सकता है
तो वह है संख्यातीत
अथवा फिर महाशून्य।

दृष्टि : सही अर्थ में

चार होठों की
प्रगाढ़ एकता के
निर्विकार, अविरल, आस्वाद से
जब भी उपजती है
गहरे मर्मों को
तल तक सहलानेवाली दृष्टि,
वही होती है,
सही अर्थ में—
दृष्टि कहलानेवाली दृष्टि।

दो द्विधाएँ

●

युग्म-परिवेश में
स्नेह रहित वासना
लगती है जितनी कुत्सित, कुरूप ;
वासना से हीन स्नेह
लगता है उतना ही वायवीय, मृत, अरूप।
पाशविक एक है तो
दूसरा अमानवीय
दैवी नहीं
कोई भी।

दोनों के बीच कहीं आदमी—
अपने अनिश्चय में तृप्तिहीन
अनगढ़, अधूरा,
अपरिभाषित रह जाता है।

सब का दुख
अपने पर लेने का दम्भ
अपना दुख
सब से कह देने की व्यग्रता
दोनों के बीच कहीं
खोया है सन्तुलन
कभी हाथ आता है,
कभी छूट जाता है।

मैं कहीं असामाजिक बना रहना चाहता हूँ

असामाजिक स्थितियाँ
काँटेदार वृक्षों-सी आँख में गड़ती हैं
किन्तु सामाजिकता सदा
उन्हीं का बाड़ा बनाकर पनपती है।

हम को बचाती रही हैं संगीनें
दूसरों के सीने में चुभ-चुभकर
अस्वीकृत सन्दर्भ
चित्त के ठहरे हुए जल में
क्षोभ उपजाते हैं,
लेकिन जो स्वीकृत सामाजिक है
वह भी तो घिस-घिसकर
कितना निष्प्रेरक हो जाता है,
कभी-कभी कितना अमानवीय !
ओढ़ी हुई, झूठी नैतिकता
भारी लबादा है
उसी के बोझ से
आदमी की सीधी चाल कुण्ठित हो जाती है,
कलुषित हो जाता है सहज रूप।

स्थितियाँ
कहते हैं जिन्हें हम असामाजिक
मानस के भीतरी सत्यों को उकसाकर
ऊपर ले आती हैं। मन्थन के क्रम में—
अपने से होता है गहरा साक्षात्कार
थाह मिल जाती है अपने शक्ति-संयम की,
स्वयं हो जाती है खोटे-खरे मूल्यों की पहचान।

जीना वह ज़िन्दगी
जो बिलकुल सपाट हो
कितना निःस्वाद है।

नया रूप अपने कगारों को
देती ही रहती है प्रखर धार।

गतिरोधक बाड़ों में नहीं,
मैं सिरजते कगारों में जीता हूँ।

दीर्घतमा मर्यादा

यह आकस्मिक नहीं है कि जिस ने
पहली बार नारी को मर्यादित करने की चेष्टा की
वह जन्मान्ध था
बिना दीर्घतमा हुए
ऐसा संकल्प भला करता ही कौन ?
आँखों में थोड़ी भी होती यदि ज्योति
देख लेता सत्य को नितान्त नग्न
कर लेता उस का साक्षात्कार
हाथ पर रक्खे हुए आँवले-सा,
करता उपेक्षित नहीं—
जर्जर परिणति को भी।
कितना घुन गया है
ढाँचा मर्यादा का

कितनी सड़ चुकी है
देह नैतिकता की
हर उपदेशक के मुँह से गन्ध आती है।

बीज में ही होंगे कहीं रंग रहे
घातक कीटाणु तिक्त
मन के विकारों का अन्वेषण
इस को करेगा सिद्ध ;

कहते हो जिसे पाप
पुण्य से वही कहीं ज़्यादा पुराना है।

प्राणी सब जिस के फल-फूल हैं
सृष्टि-लता किसी महद्योनि से विनिस्सृत है,
मुर्दों के टीले भी अवगत थे इस निगूढ़ कल्पना से।

'नारी ही आदि शक्ति
सारी मर्यादाएँ
उसी की इच्छा-अनिच्छा से
बनती-बिगड़ती हैं।

पुरुष तो स्थाणुवत्
निष्क्रिय था, निष्क्रिय है।'

साहस हो तो पहले
इसी मूल दर्शन पर चोट करो।

प्रतीकों से परे

कहीं किसी बिन्दु पर
राधा से द्रौपदी
लगती है बहुत बड़ी ;

शीश झुका, आँसू ढरकाती रही राधिका—
व्रज के निकुंजों में,
कृष्णा के आहत स्वाभिमान ने
खींच लिया कृष्ण को—कुरुक्षेत्र ।

एक को सब कुछ समर्पित कर देने में
हृदय ही कसौटी बन पाता है,
बहुतों में एक को पिरोने में
बुद्धि भी परीक्षित हो जाती है ।
जायें राधिकाएँ
अब हमें द्रौपदियों को समझना है,
या कि दोनों से परे—
पहचानना है,
आधुनिक नारी को ।

पूरी औरत की तलाश

शिव की भुजाओं से
धरती पर
खण्ड-खण्ड होकर गिरी
जब से सती की देह,
तभी से जारी है अथक खोज
नारी के पूरे व्यक्तित्व की ।

पाप-पुण्य के द्वन्द्व से
ऊपर उठकर
तुम ने मेरी शक्ति को
सराहा है ;
केवल गुणों को नहीं,
मेरे दोषों को भी चाहा है ;
दोषों-गुणों से परे
ममता को थाहा है ।

तुम्हारी आँखों में
उस पूरी औरत का साया है
जिस की मुझे ही नहीं,
मेरे सारे युग को तलाश है।

दया ही नहीं, अदाया भी
ममता-मधुरिमा ही नहीं, माया भी।
केवल सहचरी-अनुचरी नहीं
आत्म परिचालित निर्णायक व्यक्तित्व भी
अनभिव्यक्त, कुण्ठित, रूढ़िग्रस्त नहीं
मुक्तमना, तर्क-प्रखर, सार्थक कृतित्व भी।

पूरी औरत होगी—
देवी न दानवी,
ऊपर से नीचे तक मानवी ;
पशु तो कभी भी नहीं।

प्र ति फ ल

मुझे लक्ष्य-वेध काम्य,
वाण और वाणी में
देखता हूँ क्रिया-साम्य ।

निरुत्तर

नारी
किसी प्रश्न का
उत्तर नहीं है कभी,
वह तो स्वयं ही एक
अन्तहीन प्रश्न है।
जिस का उत्तर
खोजते-खोजते
अपने को भूलकर
पुरुष हो जाता है—
कभी महामानव
तो
कभी महाशून्य।

कभी श्रद्धामयी देवी,
कभी कामातुर पातुर ;
मुक्ति भी, घेरा भी,
तीखा उजाला भी,
गहरा अँधेरा भी।
शान्ति की नदी भी,
क्रान्ति की आग भी ;
कानों में चुभता कोलाहल भी,
हवा पर तैरता राग भी।

कितना कहा जाय
स्त्री तो पूरा शब्दकोश है,
पुरुष
जितना भी अर्थ लगाये
हमेशा उस से कुछ ज़्यादा और।

हाथ के दर्पण में पड़ती हुई
अपनी ही मुख-छाया
पकड़ के भीतर भी
पकड़ के बाहर भी।

क्षण : दीप्त-अदीप्त

जागते प्रदीप्त क्षणों में
नारी पुरुष को
अपने में
अपनेआप गहती है।

कभी खुली-अधखुली
कभी मुँदी-अधमुँदो
आँखों से
भाषातीत भावों को
अनायास कहती है।

पिघलती देह के
उफनाते सीमाहीन ज्वार में
साथ-साथ रुकती है,
साथ-साथ बहती है।

लेकिन जब होते हैं
सोते अदीप्त क्षण
वही अन्तर्मुखी हो
पुरुष के स्नेह-व्यवहार को
निर्विकार सहती है।

सारी रीझ-खीझ में
किसी जगह
काठ बनी रहती है।

एक त्रयी

प्रिया
क्रिया
और त्रिया का
हर योगायोग
अलग-अलग अर्थ
रखता है।

हर एक त्रिया
प्रिया नहीं हो सकती
पर प्रत्येक प्रिया
त्रिया होती है,
पूरे चरित्तर के साथ।

इसी लिए
किसी भी क्रिया को
प्रिया से
जुदा कर पाना
असम्भव है।

पीले गुलाब में जड़ी हुई
बिल्ली की आँख
—प्रिया।
चन्द्रमा में चील का घोंसला
—त्रिया।
वगरे बसन्त में
गिरगिट की देह
—क्रिया।

पूर्वापर मातृत्व

प्रसव-पीड़ा से अपरिचित स्त्री
स्त्री नहीं, एक सजीव जाल होती है ;
अपने संकेतों को सूक्ष्म बना
गति को सम्हालकर
करती रहती है
मकड़ी की तरह
प्रहार पर प्रहार ।

माता बन जाने पर
नारी-मन में
पुरुष मात्र के प्रति
उग आता है अपार वात्सल्य,
सब को समझकर नितान्त शिशु
क्षुधातुर मुँह में स्तन देने की आकांक्षा
कहीं गहरे में उठती है जाग,
आदिम मातृत्व की
धुँधली-सी याद झलक जाती है ।

देखते ही देखते
युवती की देह का
सारा मदिरालय
क्षीर-सागर बन जाता है ।

अन्तहीन-कविता

मन लिखता रहता है
प्रतिक्षण संकल्पों-विकल्पों की भाषा में
जो कविता अन्तहीन
इन्द्रियाँ गोचर संकेतों से
करती रहती हैं बस उसी का
युगपत् अनुवाद ।
कभी-कभी ऐसा भी होता है
सारी तत्परता के बावजूद
छूट-छूट जाता है मूल अर्थ
पार्थिव पकड़ से ज्ञानेन्द्रियों की
मुट्ठी में बँधे हुए जल-सा ।

होकर तब अन्तर्लीन
वे ही सब
उस को टटोलती हैं
जैसे मीन
खोजती हैं अपना खाद्य
जल की गहराई में
तैर-तैर इधर-उधर ।

सारी कर्म-शृंखला को
अपने ही भीतर सहेजे
एक महामौन
जगकर भी सोता हुआ
महाकाल
सृष्टि का कूटस्थ संचरण
मन की पँखुरियों के बीचो-बीच बन्दी है
मधुमय सुगन्ध के साँचे में ढले हुए
बीज-सा शक्तिमान् ।

हर गति, हर आवर्तन, हर प्रवाह
उस के संवेग का स्वतः स्फूर्त महच्छन्द ;
सारी क्रियाएँ मनुष्य की
उसी की मूर्तिमान् पंक्तियाँ
कविता जो अन्तहीन
रचता रहता है मन अहोरात्र।

शब्द और अर्थ के बीच

आकांक्षा
शब्द को देती है अर्थ।
तुम्हारे शब्दों को क्या हो गया है ?
या तो तुम तुम्हीं नहीं रहे,
या उन का अर्थ खो गया है।
बाण जो तुम ने छोड़े
लक्ष्य तक कहाँ पहुँचे,
बीच ही में उन के पंख टूट गये।
सच होगा यदि कहूँ
वे छोड़े ही नहीं गये।
अनायास केवल छूट गये।
शंकित मत हो धनुर्धर ! मेरे लिए—
तुम्हारी आकांक्षा कहीं मर गयी है,
या किसी अवरोध के पंक में
बुरी तरह भर गयी है,
इतनी कि उस की गति जानी नहीं जाती;
तुम्हीं से तुम्हारी कांक्षा पहचानी नहीं जाती।
उतरी हुई वाणी
ढीली प्रत्यंचा है—
कब किसे कोटि-क्रम देती है,
धनुष से लिपटी हुई—
सर्पिणी का ही भ्रम देती है।

मुझे लक्ष्य-वेध काम्य
बाण और वाणी में
देखता हूँ क्रिया-साम्य।

मैं कवि हूँ स्वाभिमानी,
शब्दों में नया और सच्चा
अर्थ भरना चाहता हूँ।
खोखली ध्वनियों की
बेरहम जंजीर से बँधकर
कुत्ते की मौत
नहीं मरना चाहता हूँ।

पैर के निशान

पानी संस्पर्शों को याद नहीं रखता है।
रेत भी काफ़ी भुलक्कड़ है,
उस पर कहीं कोई चिह्न ठहरा है?

दलदल में धँसे हुए
अस्थिर विश्वासहीन पाँव
जहाँ जो भी गहराई छोड़ जाते हैं
उस से तो केवल अँधेरा ही झाँकता है।

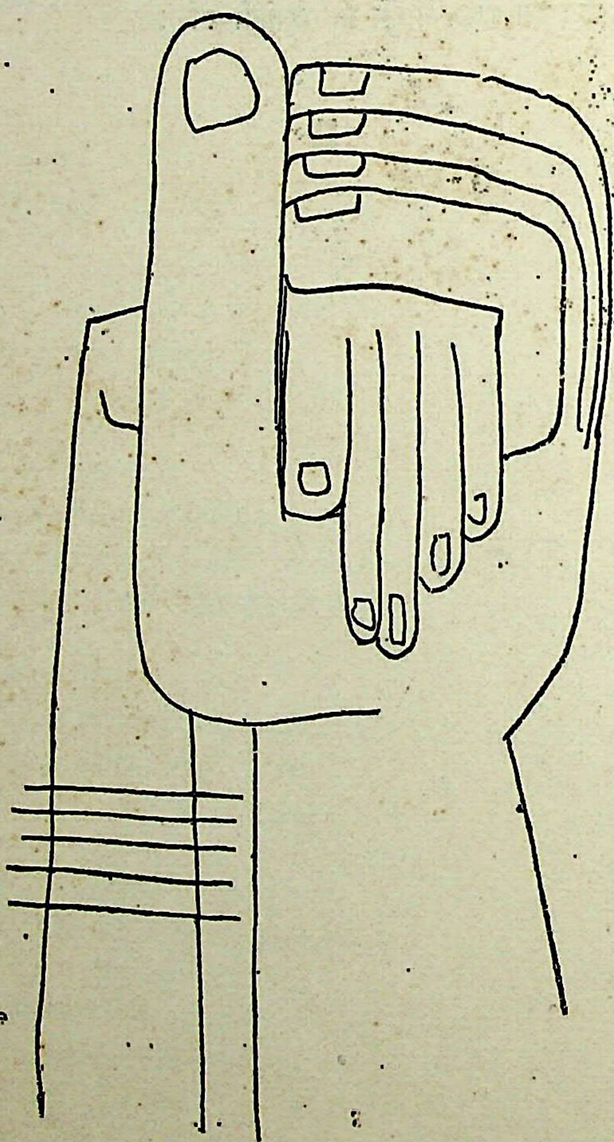
ऐसे पद-चिह्नों से
कौन मतिमान भला अपनी गति आँकेगा
धूल पर उभरेगा जो भी पदांक
—वह धूल ही फाँकेगा।

एक संकल्प कहीं ऐसा भी होता है
जिस की गति अंकित हो जाती है—
पत्थर की छाती पर
ऊँची चट्टानों के गर्व पर,
नीची शिलाओं की थाती पर।

सुनता हूँ—
वनवासी राम के—
चित्रकूट में अब भी अंकित हैं चरण-चिह्न,
चाहता हूँ मैं भी कहीं—
ऐसा ही एक चिह्न जाऊँ छोड़,
धरती की पीठ पर।

भोर की इस पावन वेला में
करता हूँ तुम को आमन्त्रित मैं
दो मुझ को शक्ति
और मेरी इस इच्छा में तुम भी सहजीवी बनो।

■





कवि-चित्रकार जगदीश गुप्त

इतिवृत्त

जन्म : सं. 1981, शाहाबाद, हरदोई।

शिक्षा : बी. ए. से डी. फ़िल् तक प्रयाग विश्वविद्यालय में।

वर्तमान निवास : 181-ए/1, नागवासुकि, इलाहाबाद-6।

नियुक्ति : रीडर, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

अन्य कार्य : सम्पादक 'नयी कविता'; संयोजक 'परिमल'; संचालक, 'कविता-वृत्त'; संस्थापक, साहित्य सहयोग सहकारी समिति लि., इलाहाबाद; प्रबन्ध मन्त्री, भारतीय हिन्दी परिषद्; आदि।

रुचियाँ : चित्रकला, कविता, देश-भ्रमण, पुरातन एवं नवीन संग्रहालय-दर्शन, मूर्ति-मुद्रा-संकलन, पुस्तक-संचय, वार्ता-सुख, मैत्री;

प्रकाशन

समीक्षा : नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ;

कविता-संकलन : नाव के पाँव (1955), शब्द-दंश (1959), हिम-विद्ध (1964), युग्म (1973);

शोध-प्रबन्ध : गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन (1957);

संपादित काव्य-संग्रह : काव्य-सेतु, रीति-काव्य संग्रह, कवितान्तर;

पत्रिका : 'नयी कविता', आठ अंक (1954 से 1967);

प्रतिवेदन : लेखक और राज्य; स्मारिका, परिमल, रजत-पर्व; कार्य-शिविर स्नातकोत्तर हिन्दी-शिक्षण;

कला-ग्रन्थ : प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, भारतीय कला के पद-चिह्न।





भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण

संस्थापक : श्री शान्तिप्रसाद जैन